यह उन्हीं के हाथ का प्रसाद है जो तुलसी की उपासना में बटा है। यदि उनका हाथ मेरी वाणी को रूप न देता तो यह 'तुलसीदास' भी आपके सामने न होता। श्री पद्माजी का योग भी इसमें कुछ न कुछ रहा है। अतः उनका भी कृतज्ञ हूँ। अन्त में अपने प्रिय पाठकों से कहना यही है कि वस्तुतः यह अध्ययन नहीं 'दुइ बोल' है जो 'परीक्षा' और 'शोध' को दृष्टि में रखकर अपने स्थान से निकल पड़ा है और अब आप की आँख में जा बसा है। इसमें त्रुटियाँ अनेक और भूलें भी बहुत हैं। दोष का भी अभाव नहीं। परन्तु विश्वास है कि भाव की शुद्धता, अनुशीलन की चेष्टा और जीवन के उद्योग के कारण लेखक और छापक का श्रम वृथा न जायेगा और जो मन लगाकर देखेगा उसके पल्ले तो भी कुछ अवश्य पड़ेगा—खरा या खोटा इसका निर्णय उसका राम जाने। अपना राम तो यही कहता है कि इसी बहाने इतना हो गया यही क्या कम है। महँगी के जमाने और कागद के दुकाल में यदि पुस्तक का रंग भी बदलता रहा तो 'बाट' क्या पड़ी! इस जन को तो सदा 'दुइ आखर' का ही बल रहा है न?

गुरु पूर्णिमा
संवत् २००५ विक्रम

चन्द्रबली पांडे,
काशी

सूची

"पोथी तुम बांचौ, हिये सार नहीं सांचौ,
अजू ताते मत कांचौ, दूर करै न अंध्यारे कौं ॥"
देखो पोथी वांच, नाम महिमा हूँ कहीं साँच,
ऐपै हत्यै करै कैसें तरै कहि दीजिये।
"आवै जौ प्रतीति कहौ", कही याके हाथ जेवैं,
शिव जू को वैल तव पंगति में लीजियै।"
थार में प्रसाद दियौ चले जहाँ पन कियौ,
बोले "आप नाम के प्रताप मति भीजियै।
जैसी तुम जानो तैसी कैसे कै वखानो अहो"
सुनि कै प्रसन्न पायौ जै जै धुनि रीझियै ॥
आये निसि चोर, चोरी करन हरन धन,
देखे श्यामघन हाथ चाप सर लिये हैं।
जव जव आवैं वान साधि डरपावैं,
एसौ प्रीत मँडरावैं ऐपै वली दूर किये हैं।
भोर आय पूछैं "अजू! साँवरो किशोर कौन?"
सुनि करि मौन रहें, आँसु डारि दिये हैं।
दै सवैं लुटाय, जानी चौकी राम राय दई,
लई उन्हौं दिक्षा सिक्षा सुद्ध भए हिये हैं ॥
कियौ तन विप्र त्याग तिया चली संग लागि,
दूरहीं ते देखि कियो चरण प्रणाम है।
वोले यौं "सुहागवती", मरयौ पति होऊँ सतो"
"अब तौ निकसि गई ज्याऊँ सेवौ राम है।"
वोलिकै कुटुम्ब कही "जौ पै भक्ति करौ सही,
गही तव वात जीव दियौ अभिराम है।
भये सव साधु व्याधि मेटी लै विमुखता की,
जाकी वास रहै तौ न सूझै श्याम धाम है ॥

"दिल्लीपति पातसाह अहदी पठाये लैन ताकौ,
सो सुनायौ सूबै विप्र ज्यायौ जानियै।
देखिबे कौं चाहै नीकै सुख सों निबाहै,
आय कही बहु बिनै गही चले मन आनियै।
पहुँचे नृपति पास, आदर प्रकास कियौ,
दियौ उच्च आसन लै, बोल्यो मृदु वानियै।
दीजै करामात जग ख्यात सब मात किये,
कही "झूठ बात एक राम पहिचानियै॥
"देखैं राम कैसौ" कहि, कैद किये, किये हिये,
"हूजिये कृपाल हनुमान जू दयाल हो।"
ताही समै फैलि गये, कोटि कोटि कपि नये,
लोचैं तन खोंचै चीर भयौ यों विहाल हो।
फोरैं कोट मारैं चोट, किए डारैं लोट पोट,
लीजै कौन ओट जाय मान्यौ प्रलय काल हो।
भईं तब आँखैं, दुख सागर कों चाखैं
अब वेई हमैं राखैं, भाखैं वारो धन माल हो॥
आय पाय लिये "तुम दिये हम प्रान पावै,"
आप समझावैं "करामात नैकु लीजिये।"
लाज दबि गयौ नृप, तब राखि लयौ, कह्यौ,
"भयौ घर राम जू कौ वेगि छोड़ दीजियै।"
सुनि तजि दयौ और करयौ लै कै कोट नयौ
अबहूँ न रहै कोऊ वामै, तन छीजियै।
काशी जाय, वृन्दावन आय मिले नाभा जू सों,
सुन्यो हो कवित्त निज रीझ मति भीजियै॥
मदन गोपाल जू कौ दरसन करि कही,
"सही राम इष्ट मेरे दृष्टि भाव पागी है।"

वैसे ही सरूप कियौ, दियौ लै दिखाइ रूप,
मन अनुरूप छवि देखि नीकी लागी है।
काहू कही, "कृष्ण अवतारौ जू प्रसंस महा
राम अंस," सुनि बोले "मति अनुरागी है।
दशरथ सुत जानौ, सुन्दर अनूप मानौ,
ईशता बताई रति बीस गुनी जागी है॥"

वही, प्रियादास की टीका

प्रियादास ने तुलसीदास के जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसको कुछ इतिहास के साथ देखना हो तो 'पद प्रसंग-माला' के इस अवतरण को लें—

"एक समय तुलसीदास जू काशी नगर रहैं, तहां सहज ही एक ओर वहिर भूमि कौं गयो करते, अवसेप जल रहतो सो नित्य ही एक वृक्ष के मूल मैं डार्‌यो करते, तामैं एक प्रेत रहतो, सो जल करि तृप्त होतो, वह एक समैं उनकौं प्रतच्छ भयो, अरू कह्यो कि मैं प्रेत हूँ, तुम मोकौं जल करि तृपत करत हौ सो बड़ो गुन करत हौ, मैं हूँ तुमसों गुन करूंगौ, या ओर कौं रामायण की कथा होयहैं, तहां हनूमान जू आवै हैं, यह उनकी परीछा हैं, घोरे दुर्वल वृद्ध ब्राह्मन के स्वरूप, सव श्रोतनि के पहिलै तो आवैं हैं, अरू पाछैं जाये हैं, सो तुलसीदास जू यह सुनि अरू वे कथा सुनि जात हे, तहां उनके पांवनि सीस दैकैं पांव गहि रहे, हनूमान जू वहुत नटे कह्यो मैं वृद्ध ब्राह्मन हूँ, मोसूं कहा कहैं, इनिन पाव नाहीं छांडे तव हनूमान जू ने कही, तू चाहत है सो मांगि, अरु मेरो पैंडो छोडि, तव तुलसीदास जू कही, मोकूं श्रीराम लक्ष्मण जू को दरसन करावो, तव हनूमान जू कही वहुत चिंता करि कह्यो, तै वहुत दुर्लभ वस्तु मांगी भला कहा कीजे, इच्छा उनहीं की, तव वहिर एक वन मैं टीवा वतायो,

करामात दिपावो, तव इन कही हम करामात तो कछू जानैं नहीं, तव इनकौं कैद करि रापे, ता,समै राजा अनीराय वड़गूजर तुलसीदास जू के पास आये, वीनती कीनी, जु महाराज ऐसौ कीजियैं हिंदवन के मारग की घटती न दीसै अरू आगै तैं कोई वैष्णवन कौं संतावैं नहीं, तापर इननि एक नयो पद बनाय वाकौं गांवन लगे, ताही समैं अगनित वांदर उपद्रव करत पातिसाह की दृष्टि परे, तव पातिसाह भय मानि इनके पाइनि आनि परिकैं छमा करवाइ सीपदई, चलतीवेर तुलसीदास जी नैं यह आग्या कीनीं कि यहां श्रीराम जी के सेवक हनुमान को परकर आयो सो यह ठौर उनकी भई, तुम और ठौर जाय रहो, यहां तुम्हारे ही कुटुंव के वंदीवान ह्वै रहैंगे, यह सुनि पातिसाह नै सलेम गढ़ छोडि दयो सो अव तक भी पातिसाह के कुटुम्व के उहां कैद रहतु हैं सो जा पद कौं वनाय गाये तैं यह लीला भई सो वह यह पद—

तुमहिं न ऐसी चाहिये हनुमान हठीले।
साहिव सीताराम से तुमसे जु वसीले।
तुमरे देखत सिंघ के सिसु मेंडुक लीले।
जानति हूँ कलि तेरेऊ मनु गुन गन कीले।
हांक सुनत दसकंध के भये वन्धन ढीले।
सो वल गयो किधौं भये अव गरव गहीले।
सेवक को परदा फटै तुम समरथ सीले।
सांसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले।
तिहूं काल तिनको भलो जे राम रंगीले॥ २॥

पुनः अन्य पद प्रसंग—वैष्णव तुलसीदास जू सो श्रीरामचंद्र जू के उपासिक महा अनन्य, ऐसे जू औरु अवतारी अवतारनि के गुन वर्नन न करैं न औरनि के गुन सुनैं, स्वइछा सौं न

तू या परि जाय बैठि, इहां तोकूं दरसन होयगो, तहां तुलसीदास जी बैठे, सहित आरत देषत रहे, इतै ही मैं श्रीराम लक्ष्मण जू मनुष्य को स्वरूप या भांति कियें आगैं आय निकसे, मलीन तो वस्त्र हैं, हाथ मैं धनुहीं अरू तीर हैं, एक मृग मार्‌यो है, ताकौं उलटायें लियें जायहैं, लोही गिरत जायहैं, तब तुलसीदास जू उनतैं निजर टारि भूमि की ओर देखि रहे, चित्त मैं कह्यो ऐसे निर्दईन मनुष्यौं कौं मैं कहा देषूं, अब वेग निकस जाहिंगे सो या भांति श्रीराम जी तो निकसि गये, अरु ए तिनके पाछैं बहुत बेर लौं बैठे, श्रीराम जू के आयवे को मारग देष्यो करे, फेर तहां हनूमान जू को दरसन वाही भांति होत भयो, तिनसौं इन कही मोकूं श्रीराम जी को दरसन कब होइगो, मैं बहुत बेर को बैठ्यौं, तब हनूमान जू नैं कही, वे मृगयाचारेनि को स्वरूप कियैं श्रीराम लक्ष्मण ही हे, तब तुलसीदास जू रोवन लगे, बहुत पश्चाताप कियो, अरू वाही समय को तब ही एक पद बनायो। सो वह यह पद—

लोचन रहे वैरी होय।
जानि पूछ अकाज कीनौं दये भुव मैं गोय।
अबगति जू तेरी गति न जानू रह्यो जागत सोय।
सबैं रूप के अवधि मेरे निकस गये ढिग होय।
कर्महीनहिं पाय हीरा दयो पल मैं पोय।
तुलसीदास श्रीराम बिछुरैं कहो कैसी होय॥ १॥

पुनः अन्य पद प्रसंग—वैष्णव श्री तुलसीदास जी श्री राम उपासिक रहैं, तहां कोई एक त्री हुती, सो सती हौन कौं जात ही, तानैं मारग मैं तुलसीदास जू सौं दंडौत करी, तब इन कह्यो सौभाग्यवती होहु, यह कहत ही वाको पति जीय उठ्यो, यह बात सुनि पातसाह जहांगीर तुलसीदास जू सौं बुलाय कही, कछु

करामात दिपावो, तब इन कही हम करामात तो कछू जानैं नहीं, तब इनकौं कैद करि रापे, ता समै राजा अनीराय वड़गूजर तुलसीदास जू के पास आये, वीनती कीनी, जु महाराज ऐसौ कीजियैं हिंदवन के मारग की घटती न दीसै अरू आगै तैं कोई वैष्णवन कौं संतावैं नहीं, तापर इननि एक नयो पद बनाय वाकौं गांवन लगे, ताही समैं अगनित वांदर उपद्रव करत पातिसाह की दृष्टि परे, तब पातिसाह भय मानि इनके पाइनि आनि परिकैं छमा करवाइ सीपदई, चलतीवेर तुलसीदास जी नैं यह आग्या कीनीं कि यहां श्रीराम जी के सेवक हनुमान को परकर आयो सो यह ठौर उनकी भई, तुम और ठौर जाय रहो, यहां तुम्हारे ही कुटुंब के वंदीवान ह्वै रहैंगे, यह सुनि पातिसाह नै सलेम गढ़ छोडि दयो सो अब तक भी पातिसाह के कुटुम्ब के उहां कैद रहतु हैं सो जा पद कौं वनाय गाये तैं यह लीला भई सो वह यह पद—

तुमहिं न ऐसी चाहिये हनुमान हठीले ।
साहिब सीताराम से तुमसे जु वसीले ।
तुमरे देखत सिंघ के सिसु मैंडुक लीले ।
जानति हूँ कलि तेरेऊ मनु गुन गन कीले ।
हांक सुनत दसकंध के भये बन्धन ढीले ।
सो बल गयो किधौं भये अब गरब गहीले ।
सेवक को परदा फटैं तुम समरथ सीले ।
सांसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले ।
तिहूं काल तिनको भलो जे राम रंगीले ॥ २ ॥

पुनः अन्य पद प्रसंग—वैष्णव तुलसीदास जू सो श्रीरामचंद्र जू के उपासिक महा अनन्य, ऐसे जू और अवतारी अवतारनि के गुन वर्नन न करैं न औरनि के गुन सुनैं, स्वइछा सौं न

तू या परि जाय वैठि, इहां तोकूं दरसन होयगो, तहां तुलसीदास जी वैठे, सहित आरत देपत रहे, इते ही में श्रीराम लक्ष्मण जू मनुष्य को स्वरूप या भांति कियें आगैं आय निकसे, मलीन तौ वस्त्र हैं, हाथ मैं धनुहीं अरू तीर हैं, एक मृग मार्‌यां हैं, ताकौं उलटायैं लियें जायहैं, लोही गिरत जायहैं, तव तुलसीदास जू उनतैं निजर टारि भूमि की ओर देखि रहे, चित्त में कह्यो ऐसे निर्दईन मनुष्यौं कौं मैं कहा देपूं, अव वेग निकस जाहिंगे सो या भांति श्रीराम जी तो निकसि गये, अरु ए तिनके पाछैं वहुत बेर लौं वैठे, श्रीराम जू के आयवे को मारग देष्यो करे, फेर तहां हनूमान जू को दरसन वाही भांति होत भयो, तिनसौं इन कही मोकूं श्रीराम जी को दरसन कव होइगो, मैं वहुत वेर को वैठ्यौं, तव हनूमान जू नैं कही, वे मृगयावारेनि को स्वरूप कियैं श्रीराम लक्ष्मण ही हे, तव तुलसीदास जू रोवन लगे, वहुत पश्चाताप कियो, अरू वाही समय को तव ही एक पद वनायो। सो वह यह पद—

लोचन रहे वैरी होय।
जानि पूछ अकाज कीनौं दये भुव में गोय।
अवगति जू तेरी गति न जानू रह्यो जागत सोय।
सर्वे रूप के अवधि मेरे निकस गये दिग होय।
कर्महीनहिं पाय हीरा दयो पल में पोय।
तुलसीदास श्रीराम विछुरें कहो कैसी होय॥ १॥

पुनः अन्य पद प्रसंग—वैष्णव श्री तुलसीदास जी श्री राम उपासिक रहैं, तहां कोई एक त्री हुती, सो सती होन कौं जात ही, तानैं मारग मैं तुलसीदास जू सौं दंडौत करी, तव इन कह्यो सौभाग्यवती होहु, यह कहत ही वाको पति जीय उठ्यो, यह वात सुनि पातसाह जहांगीर तुलसीदास जू सौं वुलाय कही, कछु

सो जथापात्र दोऊ ही सत्य हैं, सो तुलसीदास जू ऐसे महा-अनन्य हे तिन सों काहू वैष्णव मित्र ने बहुत कही, जो महाराज तुम्हारी ऐसी कविता अरु तुम श्री कृष्ण चन्द्र को कोऊ एक हू पद बनायो नाहीं, सो ऐसैं कहत कई दिन तो निकासे फिरि उनकौं बहुत आग्रह जानि एक पद बनायो, तामैं हूं श्री रामचंद्र जू की मिश्रतता छांडी नाहीं, सो यह पद सुनि कितेक रसिकनि कौं बहुत चाह भयो, पद बहुत प्रसिद्धता पाई, सो वह यह पद—

बरनौं अवधि गोकुल ग्राम।
उत विराजत ज्यानकी वर इतहि स्यामा स्याम।
उहां सरजू वहत अद्भुत इहां जमुना नीर।
हरत कलिमल दोऊ मूरत सकल जन की पीर।
मनि जटित सिर क्रीट राजस संग लक्ष्मनि बाल।
मोर मुकटरु बैन कर ह्यां निकट हलधरि ग्वाल।
उहां केवट सखा तारे बिहसि कैं रघुनाथ।
इहां नृग जदुनाथ तारयो कूप गहि निज हाथ।
उहां सिवरी स्वर्ग दीनौं सील सागर राम।
इहां कुबजा ल्याय चंदन किये पूरन काम।
भक्ति हित श्री राम कृष्ण सु धरयो नर अवतार।
दास तुलसी दोऊ आसा कोऊ उतारो पार।

नागर समुच्चय, पृष्ठ २००-२०५

नागरीदास ने स्थिति को स्पष्ट करने का जैसा प्रयत्न किया है वैसा ही हाथरस के तुलसी साहिब ने भी। तुलसी साहिब अपने आपको गोस्वामी तुलसीदास का अवतार बताते हैं पर उनका अवतार वैसा नहीं जैसा कि महात्मा तुलसीदास का वाल्मीकि का अवतार है। उनका पक्ष तो कुछ और ही है और लक्ष्य भी कुछ और ही। देखिये, उनका पक्ष है—

औरनि के स्वरूप को जाय दरसन करैं, अरु और महानुभाव बड़े जो प्रीति करि दरसन कूं ले जांहिं, तो उनको अनादर हूँ कैसें करैं, यातैं जांहिं परन्तु विना श्रीरामचन्द्र जू के स्वरूप औरनि कौं दंडवत नाहीं करैं, एक समय श्री गोवर्धन आय निकसे, तहां श्री गुसाईं जू तुलसीदास जू कौं, श्री गोवर्द्धन नाथ जू के दरसन कौं लैं गये तहां दरसन करि तुलसीदास जू यह दोहा कह्यो—

॥ दोहा ॥

कहा कहौं छवि आजु की भले वने हो नाथ ।
तुलसी मस्तक जव नमैं, धनुप वान ल्यो हाथ ॥१॥

सो श्रीठाकुर तो भक्ति आधीन वाही समय धनुपवांन हाथ लियैं सविन की दृष्टि परे, तव तुलसीदास जू ने दंडवत करी, अरु सवनि के मन मैं इनकी ओर को वड़ो उत्कर्प आयो, अरु सविन कही, जो भक्तिनि के विषैं आश्चर्य कहा, आगैं तो ठाकुर अपनी प्रतग्या हू मेटि भक्त भीपम जू की प्रतग्या रापी ही, सो ऐसी औट पाई अनन्यता तो इनहीं सैं वनि आवैं, अरु या वारता परि जो कोऊ सन्देह उठावैं जु अवतारनि के विसैं भेदाभेद क्यौं चाहिये, सो याकी यह वार्ता हैं जु सास्त्र ही की तो आज्ञा हैं, अरु अनन्यता की अरु सास्त्र ही की आज्ञा है, भेदाभेद न राषिवे की, सो दोऊ ही सत्य हैं ऐश्वर्ज वुद्धि मैं तो भेद नहीं अरु आसक्ति उपासना भेद विन क्यौं वनैं ताको दृष्टांत जो जा राजा के नगर के लोग तथा देस के लोग हौंहिं तिनकौं तो राजा के विषैं तथा राजा के पुत्र के विषैं तथा मंत्रीस्वरनि कैं विषैं एक राजा ही के सरीर तुल्य जांनिवे की वुद्धि चाहियैं, यह जानैंजु यह सव राजा ही को स्वरूप हैं, अरु राजा की स्त्रीनि कौं यह वुद्धि न चाहिये, वे यह वुद्धि राषैं तो दोष लगैं, यातैं सास्त्र कही

अब आगे विधि सुनौ विधाना। ताकी विधी कहौं परमाना॥
ऐसे कइ दिन बीति सिराने। राजापुरी जगत सब जाने॥
लोग दरस को नित नित आवैं। दास भाव सबको उपजावैं॥
नर नारी सब आवै झारी। दरसन करैं सिपारस भारी॥
हिरदे अहीर कासी का वासी। रहै राजापुर नौकर पासी॥
वोहु प्रति दिन दरसन को आवै। प्रीति बड़ी हित कहा न जावै॥
राति दिवस दिन दिन रहै पासा। तुलसी विना और नहिं आसा॥
एक दिवस भई ऐसी रीति। कासी गये बहुत दिन बीति॥
हमरा चित हिरदे में वासी। हम चलि गये नग्र जहँ कासी॥
संवत सोलसै रहे पंद्रा। चैत मास वारस तिथि मंगरा॥
पहुँचे कासी नगर मंझाई। हिरदे सुनत दौड़ि चलि आई॥
आये चरन लीन्ह परसादी। विधि विधि रहन कुटी की साधी॥
कुटी बनाय कीन्ह अस्थाना। कासी में हम रहे निदाना॥
गंगा निकट कुटी जहँ कीन्हा। हिरदे नित आवै लौलीना।
सबसंग रंग राह रस पीना। हम पुनि वस्तु अगम की दीन्हा॥
अस अस कछु दिन कासी माईं। रहे तहाँ पुनि सहज सुभाई॥
सोलासै सोला में सोई। कातिक वदी पंचमी होई॥
आये पलक राम इक संती। रहे कासी में नानक पंथी॥
गुष्टि भाव विधि उनसे कीन्हा। खुसी भये मारग को लीन्हा॥
घट रामायन ग्रन्थ बनावा। ताकी विधी दिवस सब गावा॥
सम्मत सोलासै अट्ठारा। उठी मौज ग्रन्थ कियौ सारा॥
भादौं सुद्री मंगल एकादसी। आरंभ कियो प्रथम मत भासी॥
सुनि कासी में अचरज कीन्हा। सोर नगर में भयो अलीना॥
पंडित जग्त जैन अरु तुरका। भयौ झगरा आइ कासीपुर का॥
पंडित भेद जग्त मिलि सारा। घट रामायन परी पुकारा॥
जो कुल झगरा रीति जस भाँती। जस जस भया दिवस अरु राती॥

"मैं अब अपनी आदि बताओं। अपनी विथा आदि गति गाओं॥
जग व्योहार जगत जग राही। तब उपजा विधि कहौं बुझाई॥
राजापुर जमुना के तीरा। जहँ तुलसी का भया सरीरा॥
विधि बुन्देलखंड वोहि देसा। चित्रकोट बीच दस कोसा॥
संवत पंद्रासै नावासी। भादों सुदी मंगल एकादसी॥
भया जनम सोइ कहौं बुझाई। बाल बुद्धि सुधि बुधि दरसाई॥
तिरिया बरत भाव मन राता। बिधि बिधि रीत चित्त संग साथा॥
ज्ञान हीन रस रंग संग माता। कान्हकुब्ज बाम्हन मोरी जाता॥
जगत भाव ऊँचा सब भाँते। कुल अभिमान मान मदमाते॥
मोटा मन कछु चीन्ह अचीन्हा। ज्ञान मते मत रहौं मलीना॥
एक विधी चित्त रहौं सम्हारे। मिले कोइ संत फिरौं तेहि लारे॥
संत साथ मोहिं नीका भावै। ज्ञान अज्ञान एक नहिं आवै।
अब आगे का सुनो विधाना। ताकी विधी कहौं परमाना॥
संवत् सोलासै थे चौधा। ता दिन भया अगम का सौदा॥
सावन सुदी नौमी तिथि वारी। आधी रात भई गति न्यारी॥
बिजुली चमक भई उजियारी। कड़का घोर सोर अति भारी॥
मन में बहु विधि भर्म समाया। यह अजगुत कहो कहँ से आया॥
राति वीति गइ भयउ विहाना। मन अचरज सोइ कहौं विधाना॥
पुनि प्रति रोज रोज अस होई। एक दिवस सूरति चढ़ि जोई॥
नील सिखर गुरुद्वारे माहीं। निरखा अचरज कहा न जाई॥
कहँ लगि कहौं विधी विधि डंडा। पुनि सब निरखि परा ब्रह्मंडा॥
गंगा जमुना और त्रिवेनी। कंवल नाहिं सतयुग की सैनी॥
पद्म प्रयाग अगमपुर बासा। सतगुरु कंज सुरति पद पासा॥
तीनि लोक भीतर सब देखा। कहौं कहां लगि विधि विधि लेखा॥
जो ब्रह्मंड भरा जग मांई। सो देखा अब घट में जाई॥

× × × ×

अब आगे विधि सुनौ विधाना। ताकी विधी कहौं परमाना॥
ऐसे कइ दिन बीति सिराने। राजापुरी जगत सब जाने॥
लोग दरस को नित नित आवैं। दास भाव सबको उपजावैं॥
नर नारी सब आवै झारी। दरसन करैं सिपारस भारी॥
हिरदे अहीर कासी का वासी। रहै राजापुर नौकर पासी॥
वोहु प्रति दिन दरसन को आवै। प्रीति बड़ी हित कहा न जावै॥
राति दिवस दिन दिन रहै पासा। तुलसी बिना और नहिं आसा॥
एक दिवस भई ऐसो रीति। कासी गये बहुत दिन बीति॥
हमरा चित हिरदे में वासी। हम चलि गये नग्र जहँ कासी॥
संवत सोलसै रहे पंद्रा। चैत मास वारस तिथि मंगरा॥
पहुँचे कासी नगर मंझाई। हिरदे सुनत दौड़ि चलि आई॥
आये चरन लीन्ह परसादी। विधि विधि रहन कुटी की साधी॥
कुटी बनाय कीन्ह अस्थाना। कासी में हम रहे निदाना॥
गंगा निकट कुटी जहँ कीन्हा। हिरदे नित आवै लौलीना।
सबसंग रंग राह रस पीना। हम पुनि वस्तु अगम की दीन्हा॥
अस अस कछु दिन कासी माईं। रहे तहाँ पुनि सहज सुभाई॥
सोलासै सोला में सोई। कातिक वदी पंचमी होई॥
आये पलक राम इक संतो। रहे कासी में नानक पंथो॥
गुष्टि भाव विधि उनसे कीन्हा। खुसी भये मारग को लीन्हा॥
घट रामायन ग्रन्थ बनावा। ताकी विधी दिवस सब गावा॥
सम्मत सोलासै अट्ठारा। उठी मौज ग्रन्थ कियौ सारा॥
भादौं सुदी मंगल एकादसी। आरंभ कियो प्रथम मत भासी॥
सुनि कासी में अचरज कीन्हा। सोर नगर में भयो अलीना॥
पंडित जग्त जैन अरु तुरका। भयौ झगरा आइ कासीपुर का॥
पंडित भेद जग्त मिलि सारा। घट रामायन परी पुकारा॥
जो कुछ झगरा रीति जस भाँती। जस जस भया दिवस अरु राती॥

"मैं अब अपनी आदि बताओं। अपनी विथा आदि गति गाओं॥
जग ब्योहार जगत जग राही। तब उपजा विधि कहौं बुझाई॥
राजापुर जमुना के तीरा। जहँ तुलसी का भया सरीरा॥
विधि बुन्देलखंड वोहि देसा। चित्रकोट बीच दस कोसा॥
संवत पंद्रासै नावासी। भादौं सुदी मंगल एकादसी॥
भया जनम सोइ कहौं बुझाई। बाल बुद्धि सुधि बुधि दरसाई॥
तिरिया बरत भाव मन राता। विधि विधि रीत चित्त संग साथा॥
ज्ञान हीन रस रंग संग माता। कान्हकुब्ज बाम्हन मोरी जाता॥
जगत भाव ऊँचा सब भाँते। कुल अभिमान मान मदमाते॥
मोटा मन कछु चीन्ह अचीन्हा। ज्ञान मते मत रहौं मलीना॥
एक विधी चित रहौं सम्हारे। मिलै कोइ संत फिरौं तेहि लारे॥
संत साथ मोहिं नीका भावै। ज्ञान अज्ञान एक नहिं आवै।
अब आगे का सुनौ विधाना। ताकी विधी कहौं परमाना॥
संवत् सोलासै थे चौधा। ता दिन भया अगम का सौदा॥
सावन सुदी नौमी तिथिं वारी। आधी रात भई गति न्यारी॥
बिजुली चमक भई उजियारी। कड़का घोर सोर अति भारी॥
मन में बहु विधि भर्म समाया। यह अजगुत कहौ कहँ से आया॥
राति बीति गइ भयउ बिहाना। मन अचरज सोइ कहौं विधाना॥
पुनि प्रति रोज रोज अस होई। एक दिवस सूरति चढ़ि जोई॥
नील सिखर गुरुद्वारे माहीं। निरखा अचरज कहा न जाई॥
कहँ लगि कहौं विधी विधि डंडा। पुनि सब निरखि परा ब्रह्मंडा॥
गंगा जमुना और त्रिवेनी। कंवल माहिं सतयुग की सैनी॥
पद्म प्रयाग अगमपुर बासा। सतगुरु कंज सुरति पद पासा॥
तीनि लोक भीतर सब देखा। कहौं कहां लगि विधि विधि लेखा॥
जो ब्रह्मंड भरा जग मांई। सो देखा अब घट में जाई॥

× × × ×

तिथि और 'घट रामायण' की रचना-तिथि भी ठीक नहीं उतरती। इनके अतिरिक्त अन्य तिथियों का ठीक ठीक ब्योरा नहीं दिया गया है जिससे उनकी भी ठीक ठीक जाँच हो सके। तुलसी साहिब के अवतार की बात कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है; किन्तु तो भी यह तो कहा नहीं जा सकता कि उन्होंने जो कुछ लिखा है यों ही लिख दिया है। नहीं, उसका भी कुछ न कुछ आधार तो होगा ही। तुलसीदास की निधन-तिथि वस्तुतः क्या थी इस पर आगे चलकर विचार होगा। यहाँ ध्यान देने की बात 'सावन सुकला सप्तमी' नहीं 'नदी वरुन के तीर' है। अभी तक तुलसीदास का निधन 'असी गंग के तीर' ही माना जाता था। तो क्या इसमें कुछ तुलसी साहिब से भूल हुई है?

तुलसी साहिब ने हाथरस में बैठकर जो तुलसीदास का जन्म राजापुर में लिख दिया तो राजपुर को इससे और भी महत्त्व मिल गया। प्रायः लोग परम्परा से राजापुर को ही तुलसीदास का जन्मस्थान मानते आ रहे हैं। पर इधर कुछ दिनों से 'सोरों सामग्री' की कृपा से कुछ लोग सोरों को तुलसीदास का जन्मस्थान मानने लगे हैं। 'सोरों सामग्री' ऐसी नहीं कि उसको आँख मूँद कर मान लिया जाय। सच तो यह है कि 'मूल गोसाईं चरित' और 'सोरों-सामग्री' एक ही चट्टेवट्टे की सूझ हैं। अन्तर उनमें केवल इतना ही है कि 'मूल गोसाईं चरित' एक पोथी के रूप में है और 'सोरों-सामग्री' अनेक पोथियों के पत्रों में। 'सोरों-सामग्री' के बारे में बहुतों ने बहुत कुछ लिखा है—पक्ष में भी विपक्ष में भी। परिणाम यह हुआ है कि धीरे-धीरे लोगों का विश्वास उससे उठ चला है। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी के कुछ प्रेमियों ने तुलसी के लिये जब तब कुछ जाल भी कम नहीं रचा है। जो हो, कहना हमें यह है कि 'सोरों-

ता से ग्रन्थ गुप्त हम कीन्हा। घट रामायन चलन न दीन्हा॥
या से संत मते की रीती। जगत अजान न जानै प्रीती॥
सम्मत सोलासै इकतीसा। राम चरित्र कीन्ह पद ईसा॥
ईस कर्म औतारी भावा। कर्म भाव सब जगहिं सुनावा॥
जग में झगरा जाना भाई। रावन राम चरित्र बनाई॥
पंडित भेष जगत सब झारी। रामायन सुनि भये सुखारी॥
अंधा अंधे विधि समझावा। घट रामायन गुप्त करावा॥
अब कहौं अंत समय अस्थाना। देह तजी विधि कहौं विधाना॥

॥ दोहा ॥

सम्मत सोलासै असी, नदी बरुन के तीर।
सावन सुकला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥"

'घट रामायन', पृष्ठ ४१४-४१८

तुलसी साहिब ने इस प्रकार अपने अतीत का जो इतिहास कहा है वह राजापुर से काशी तक ही रह गया है और उसमें उनके अतिरिक्त केवल दो मूर्तियों का नाम आया है—एक हिरदय अहीर और दूसरा पलकराम नानकपंथी का। इन व्यक्तियों से शोध के क्षेत्र में किसी प्रकार का कार्य अभी तो नहीं लिया जा सकता, आगे की राम जानें। हाँ, इसमें जो तिथियाँ दी गई हैं उनसे कुछ काम अवश्य लिया जा सकता है। उनमें भी दो तिथियाँ संवत् १६३१ और संवत् १६८० तो अति प्रसिद्ध हैं। शेष के विषय में अवश्य छानबीन करने की आवश्यकता है। इनमें से पहली तिथि है संवत् १५८९ भादौं सुदी एकादशी मंगलवार। श्री माताप्रसाद गुप्त का कहना है कि विगत संवत् वर्ष प्रणाली से यह तिथि ठीक है इसके अतिरिक्त दो तिथियाँ और हैं जिनके सम्बन्ध में उन्होंने अपना निर्णय दिया है। काशी-आगमन की

बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक हैं,
सुनत सिहात सोच बिधि हू गनक को।
नाम राम रावरो सयानो किधौं बावरो जो,
करत गिरी तें गरु तन ते तिनक को।
कवितावली, उत्तरकांड–७३

इस 'कुल मंगन' की जानकारी के लिये इतना और जान लें कि तुलसीदास अपने माता-पिता के विषय में भी कुछ विशेष ही बात बताते हैं। उनका कहना है—

मातु पिता जग जाय तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकन लागि ललाई।
राम सुभाउ सुन्यो तुलसी प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सों साहब खोरि न लाई।
कवितावली, उत्तरकांड–५७

एवं—

नाम राम रावरोई हित मेरे
स्वारथ परमारथ साथिन सों भुज उठाइ कहौं टेरे।
जननी जनक तज्यो जनमि करम बिन बिधिहू सृज्यो अवडेरे।
मोहूँ से कोउ कोउ कहत रामहि को सो प्रसंग केहि केरे?
फिर्‌यो ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरें।
नाम-प्रसाद लहत रसाल-फल अब हौं बबुर बहेरे।
साधत साधु लोक परलोकहि, सुनि गुनि जतन घनेरे।
तुलसी के अवलंब नाम को एक गांठि कई फेरे।
विनयपत्रिका, २२७

नहा। जन्मस्थान तो उन्होंने भी राजापुर को माना है, उनका कहना है कि तुलसीदास जो संवत् १५८९ में राजापुरी में उत्पन्न हुये थे और बचपन में ही त्याग दिये गये थे सोरों में ही संन्यासी नृसिंहदास के द्वारा पालेपोसे गये। अस्तु, इतना और भी स्मरण रहे कि तुलसी साहिब सोरों के निकट ही थे, पर सोरों को तुलसीदास का जन्म स्थान नहीं मानते। मानते क्या, उसका उल्लेख तक नहीं करते। तो क्या राजापुर की जनश्रुति किसी और सोरों को तुलसीदास का जन्मस्थान बताती है? स्मरण रहे, तुलसीदास ने अपने जन्म के विषय में तो कुछ न कुछ प्रसंगवश जैसेतैसे कह भी दिया है पर अपने जन्मस्थान के बारे में कहीं कुछ भी नहीं कहा है, और यदि कहीं कुछ कहा भी है तो सूकरखेत के बारे में इतना ही—

"मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तस बालपन तब अति रहेउँ अचेत।"

इससे इतना तो प्रकट होता है कि बालपन में तुलसीदास ने अपने गुरु से सूकरखेत में कथा सुनी थी, किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि तुलसीदास का जन्म भी सूकरखेत में ही हुआ था।

तुलसीदास के जन्म-स्थान की चिन्ता छोड़ देखना यह ना हिये कि तुलसीदास ने अपने जन्म के विषय में कुछ कहा है न नहीं। सो सौभाग्य की बात है कि तुलसीदास ने अपने न्म के विषय में बार बार कहीं न कहीं, कुछ न कुछ कहा है। कहते हैं—

"जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।

पाप का अर्थ पाप कर्म लगाना उचित नहीं प्रतीत होता। नहीं, इसका अर्थ 'अहो पापं' का 'पाप' ही है।

तुलसीदास ने अन्यत्र भी कहा है—

तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो।
सुनहु राम, विनु रावरे, लोकहुं, परलोकहुं कोउ न कहूं हित मेरो।
अगुन अलायक आलसी जानि अधम अनेरो।
स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक-औचट उलटि न हेरो॥

विनयपत्रिका, पद-२७२

तुलसीदास ने यहाँ 'स्वारथ के साथिन' का उल्लेख किया है और यह भी स्पष्ट कह दिया है कि 'तिजरा' के 'टोटक' की भाँति उन्हें छोड़ दिया गया और फिर उनकी ओर मुड़कर कभी देखा भी नहीं गया। कारण, अपनी अयोग्यता बताते हैं। इससे प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने 'स्वारथ के साथिन' का संकेत माता-पिता के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धियों के लिये किया है। तुलसीदास ने अपनी अयोग्यता का जहाँ तहाँ जो परिचय दिया है वह इतना अतिरंजित है कि उसकी यथार्थ व्याप्ति का ठीक ठीक पता लगाना अत्यन्त कठिन है। तुलसीदास ने अपने आप ही कह भी दिया है कि विना विनय के राम नहीं मिलते। गरीबी के बारे में उनका कथन है—

नाथ गरीबनिवाज हैं मैं गही न गरीबी।
तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी।

विनयपत्रिका, पद-१४८

साथ ही अपने आप ही इतना और भी कहते हैं—

पुर पाँउ धारि हैं उधारि हैं तुलसी हूँ से जन,
जिन जिन जानि के गरीबी गाढ़ी गही है।

गीतावली, अयोध्या पद- ४१

तुलसीदास के इस 'तज्यो' का अर्थ क्या है, इसका ठीक ठीक समाधन आज तक न हो सका। तुलसीदास ने अन्यत्र भी कहा है—

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद, परि पाहूं।
हैं दयालु दुनि दस दिसा दुख-दोष-दलन-छम, कियो न संभाषन काहूं।
तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूं।
काहे को रोस दोष काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुई सब छाहूं।
दुखित देखि संतन कह्यौ सोचै जनि मन माहूं।
तोसे पसु पांवर पातकी परिहरे न सरन गये रघुबर ओर निवाहूं।
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति विना हूं।
नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो बिलोकि अबतें सकुचाहु सिहाहूं॥

विनयपत्रिका, २७५

इस पद में 'ज्यों' से कुछ आशा बँधी तो देखा कि 'कुटिल-कीट ज्यों' और भी विकट हो गया। पहले लोगों ने संभवतः 'अभुक्त-मूल' की प्रेरणा से 'कुटिल-कीट' का अर्थ किया था सर्पिणी, परन्तु अब कुछ लोग सोरों-सामग्री के आधार पर इसका अर्थ लगाते हैं 'कँकड़ा', और कहते हैं कि कँकड़ा को सोरों के आस पास कुटिला कहते हैं। कुटिला का निधन जनमने से हो जाता है। विच्छू के बारे में तो प्रसिद्ध ही है—

"केरा विच्छी बांस, अपने जनमलें नास।"

तो क्या इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि माता का निधन तो तुलसीदास के जन्म से ही हो गया और पिता का कुछ दिन बाद। यदि 'हूं' का संकेत केवल पिता से है तो इस अर्थ की संगति बैठ जाती है और 'भयो परिताप पाप जननी जनक को' के 'परिताप' और 'पाप' का रहस्य भी क्रमशः खुल जाता है। माता को 'परिताप' हुआ तो पिता को 'पाप'

राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूं कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखैं, आगे हू की वेद भाखै,
भलो ह्वैहै तेरो ताते आनंद लहत हौं।
बाँध्यो हौं करम जड़ गरब गूढ़ निगड़,
सुनत दुसह हौं तौ साँसति सहत हौं।
आरत-अनाथ नाथ कौसल-पाल कृपाल,
लीन्हों छीनि दीन देख्यो दुरित दहत हौं।
बूझ्यो ज्योंही, कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वैहों रावरो जू
मेरो कोऊ कहूं नाहिं, चरन गहत हौं।
मींजी गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक-सुखद सदा बिरद वहत हौं।
लोग कहैं पोच सो न सोच न संकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे,
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं।

विनय, पद ७६

इन दोनों अवतरणों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तुलसीदास अपने आप सन्त समाज में गये और गये अपनी समझ से। उस समय उनकी अवस्था ऐसी थी कि वह अपने भविष्य की चिन्ता कर सकते थे और अपनी परिस्थिति को स्पष्ट कर सकते थे। साथ ही इतना और भी कहा जा सकता है कि तुलसीदास को यह दिन किसी कराल, दारुण दुकाल के कारण देखना पड़ा था; क्योंकि इसका भी निर्देश प्रथम पद में है ही। तो क्या यह कहना यथार्थ न होगा कि

इन विरोधी बातों की ओर ध्यान दिलाने का उद्देश्य यह है कि हम तुलसीदास की स्वकथित जीवनी पर विचार करते समय विशेष सावधानी से काम लें और उससे कुछ निष्कर्ष निकालने में सदा सतर्क रहें। निदान कहना पड़ता है कि तुलसीदास ने अपनी दीनता का जो चित्रण किया है वह चाहे जितना अति की ओर मुड़ा हो पर है वस्तुतः कुछ न कुछ यथार्थ ही। तुलसी को अपने स्वार्थी सम्बन्धियों ने ऐसा छोड़ दिया कि फिर कभी उनकी ओर भूलकर देखा नहीं। उनके हृदय में इसका जो संताप था उसको दूर करने के लिये उनको सन्तों का आश्वासन मिला और उनको विश्वास हो गया कि राम की शरण में जाने से सब संकट दूर हो जाता है। तुलसी ने इसका भी उल्लेख किया है। कहते हैं—

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज ॥१॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज।
नीच जन, मन ऊंच, जैसी कोढ़ में की खाज ॥२॥
हहरि हिय में सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज।
मोहु से कहुँ कतहुँ कोऊ तिन्ह कह्यो कोसलराज ॥३॥
दीनता-दारिद दलै को कृपा-बारिधि बाज।
दानि दसरथराय के तुम बानइत सिरताज ॥४॥
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब-निवाज।
पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति सुधा सुनाज ॥५॥

विनयपत्रिका, पद-२१९.

इस पद में जो 'हहरि हिय में सदय बूझ्यो जाय साधु समाज' की घटना प्रस्तुत हुई है उसको और भी निकट से देखने के लिये तुलसीदास का यह कथन लें—

खेत से जो सम्बन्ध रहा है वह मनमानी शोध की कृपा से आज और भी विकट हो उठा है, और पक्ष-विशेष का तो आग्रह ही यही है कि यही 'सूकरखेत' किंवा 'सोरों' तुलसीदास का जन्मस्थान भी है। सोरों की ओर से जो प्रमाण लाये गये थे उनकी प्रामाणिकता तो जाती रही और उनकी साधुता में भी बहुतों को सन्देह हो गया। उधर अवध के सूकरखेत को लेकर जो 'मूल-गोसाईं-चरित' बना था वह भी बनावटी ही निकला। उसको भी लोग स्वतः प्रमाण नहीं मानते। तुलसीदास स्वयं इस सम्बन्ध में मौन हैं, अथवा कुछ कहते भी हैं तो यही—

धरम के सेतु जग मंगल के हेतु,
भूमि भार हरिबे को अवतार लियो नर को।
नीति और प्रतीति प्रीति-पाल चालि प्रभु मान,
लोक वेद राखिबे को पन रघुवर को।
बानर विभीषन की ओर के कनावड़े हैं,
सो प्रसंग सुने अंग जरै अनुचर को।
राखे रीति आपनी जो होइ सोई कीजै बलि,
तुलसी तिहारो घर जायो है घर को॥

कवितावली, उत्तरकांड-१२२

'अंग जरै अनुचर को' में जो खीझ है वही 'तुलसी तिहारो घर जायौ है घर को' को और भी सशक्त बनाती है और बताना चाहती है कि इस 'घर जायौ है घर को' का रहस्य भी कुछ और ही है। हाँ, स्मरण रहे, तुलसी लोक और वेद दोनों की रक्षा को रघुवर का 'पण' बताते हैं, कुछ केवल वेद ही को नहीं, जिससे इस लौकिक सम्बन्ध की उपेक्षा की जाय। तुलसी को यहाँ जो अभिमान होता है वह 'घर जाया' लगाव का और भी

तुलसी की दीनता और तुलसी की दरिद्रता का मुख्य कारण दारुण अकाल ही था ?

अकालों की कोई ऐसी सूची हमारे सामने प्रस्तुत नहीं है जिससे कि हम उस समय की वस्तुस्थिति को ठीक ठीक समझ सकें। तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि जो कराल, दारुण, दुकाल संवत् १६१३ में पड़ा था और जिसमें मनुष्य मनुष्य को खाने तक लगा था वही तुलसीदास को इस यातना का भी कारण रहा होगा, और उसी की क्रूरता से दहल कर ये सन्त-शरण में गये होंगे। इस संवत् का महत्त्व और भी तब बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि हाथरस के तुलसीसाहिब की दृष्टि में संवत् १६१४ में तुलसी को ज्ञानोदय हुआ और संवत् १६१५ में उनका काशीगमन।

तुलसीदास ने अपनी जीवनी को सूत्ररूप में एक ही घनाक्षरी में इस प्रकार व्यक्त करने का यत्न किया है—

बालपने सूधे मन राम सन्मुख भयो,
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं॥
पर्‌यो लोक-रीति में पुनीत-प्रीति रामराय,
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हौं॥
खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं॥
तुलसी गुसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥

हनुमानबाहुक, छन्द-४०

इसमें 'बालपने' 'लोकरीति' 'अंजनीकुमार' और 'गुसाईं भयो' आदि विशेष विचारणीय हैं। तुलसी के बालपन का सूकर-

(४) अयोध्याकांड भर में यह नियम है कि २४ दोहे के बाद, पचीसवें दोहे के स्थान पर एक छन्द और एक सोरठा रहते हैं। यह क्रम इन चार चौपाइयों और एक दोहे के बढ़ जाने से बिगड़ जाता है, और छब्बीसवें दोहे के स्थान पर छन्द और सोरठा आ पड़ते हैं।

(५) बाबू रामदास गौड़ के मत से यह प्रसंग ५१०० चौपाइयों के बाहर जा पड़ता है।

परन्तु सिवा इन युक्तियों के और कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है जिससे कि इसे प्रक्षिप्त कह सकें। सभी प्राचीन प्रतियों में यह अंश मौजूद है। सन्देह तो सभी प्रेक्षावानों को इस स्थल पर होता है, पर इसकी प्राचीनता के नाते किसी को यह साहस नहीं हुआ कि इसे क्षेपक की भाँति मूल से अलग कर दे, केवल बाबू रामदास गौड़ ने इसे मूल में स्थान नहीं दिया है।

मैं बाबू साहिब से सहमत होते हुए भी इसे मूल से पृथक् करने का साहस नहीं कर सकता और ऐसा न करने की अपनी युक्तियाँ लिखकर निर्णय पाठकों पर छोड़ता हूँ, यदि वे सन्तुष्ट हों तो इसे मूल का अंश मान सकते हैं।

(१) एक तो यह वाणी गोसाईं जी की मालूम पड़ती है।

(२) दूसरे यह प्रसंग उस समय का है जब रामजी प्रयागराज से चित्रकूट जा रहे हैं। रास्ते में यमुना मिलीं। वहीं से बहुओं को बिदा करके भगवान यमुना पार उतरे। यह स्थान गुरौली घाट के आस-पास रहा होगा। कवि की जन्मभूमि राजापुर यहाँ से निकट है। कौन कह सकता है कि अपनी जन्मभूमि के निकट अपने इष्टदेव का आना वर्णन करते करते भाव के आवेश में कवि के लिये भूत वर्तमान में परिणत न हो गया हो, और आप··· अपने इष्टदेव के चरण कमलों में 'परेउ दंड जिमि धरनि तल

घर का 'घर जाया' लगाव का। निश्चय ही तुलसीदास का घर कहीं अवध में ही था और वहीं था कहीं उनका जन्म-स्थान भी।

तुलसीदास की लोकरीति पर विचार करने के पहले ही इतना और जान लेना चाहिये कि तुलसीदास का सम्बन्ध 'रामचरितमानस' के 'एक तापस' से भी कुछ है वा नहीं। सो प्रसंग है—

तेहि अवसरु एकु तापस आवा। तेज पुंज लघु बयस सुहावा।
कवि अलषित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी।
सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि॥
राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंकु जनु पारस पावा।
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ।
बहुरि लषन पायन सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमँगि अनुरागा।
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा।
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेहु मुदित लखि राम सनेही।
पियत नयन पुट रूप पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा।

और इस पर काशी के प्रसिद्ध रामायणी श्री विजयानंद त्रिपाठी की यह टीका—

"इस अंश को प्रक्षिप्त कहना अनुचित नहीं है क्योंकि—

(१) तीरवासियों की बातचीत में अकस्मात तापस का आ पड़ना, ग्रन्थकर्ता का, अपनी परिपाटी के विरुद्ध, उस वार्ता को अधूरी छोड़कर, तापस का मिलन वर्णन करने लगना, तत्पश्चात् उसकी बिदाई बिना दिखाये ही उक्त वार्ता का शेष अंश कहने लगना।

(२) तापस को सीताजी का आशीर्वाद देना।

(३) उसकी बिदाई कहीं भी न कहना और रामायण भर में उसका उल्लेख फिर कहीं न आना। ये सभी बातें असमंजस हैं।

अच्छा, तो 'एक तापस' यदि तुलसीदास ही हैं तो भी इससे यह अनुमान दृढ़ नहीं होता कि तुलसीदास के इस विधान का कारण उनका राजापुर में जन्म लेना ही है। राजापुर के बारे में प्रसिद्ध तो यह है कि तुलसीदास के कारण ही यह पुर बसा है और यहाँ कुछ न कुछ आज तक उनकी बातों का पालन भी किया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि स्वयं राजापुर की जनश्रुति इसके पक्ष में नहीं है। तीसरी बात यह कि तापस का यहाँ स्थान है कुछ बालक तुलसी का जन्मस्थान नहीं। तात्पर्य यह कि यह तुलसी की तपोभूमि है, कुछ जन्मभूमि नहीं, कहा जा सकता है कि फिर तुलसी ने इसी भूमि को तपोभूमि के रूप में स्वीकार क्यों किया और क्यों यहीं आकर जम रहे। निवेदन है कि उसी तापस के प्रसंग पर थोड़ा और ध्यान दें और देखें यह कि यहीं से वास्तव में राम की वनयात्रा आरम्भ होती है, और यहीं से राम-सखा केवट भी वापस लौट जाता है। तुलसीदास का 'पथिक' राम से कितना अनुराग था इसे भी थोड़ा देख लें। तुलसीदास स्वयं लिखते हैं—

अंग अंग अगनित अनंग छवि, उपमा कहत सुकवि सकुचात।
सिय समेत नित तुलसिदास चित, बसत किसोर पथिक दोउ भ्रात।

गीतावली, अयोध्या-१५

तथा—

रीति चलिबे की चाहि प्रीति पहिचानि कै।
आपनी आपनी कहैं प्रेम परबस अहैं,
मंजु मृदु बचन सनेह सुधा सानिकै।
साँवरे कुँवर के बराइ कै चरन चिन्ह,
बधू पग धरति कहा धौं जिय जानिकै।
जुगल कमल - पद - अंक जोगवत जात।

दसा न जाइ बखानि' की दशा को न प्राप्त हो गये हों। 'कवि अलषित गति वेष विरागी।' से भी यही ध्वनित होता है। यहाँ का कवि शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। और कहीं उल्लेख न आना, विदाई न कहना आदि शंकाओं का समाधान सहज में ही हो जाता है।

(३) तीसरे यह भी सम्भव है कि कवि ने पीछे से इसे रामचरितमानस के बाहर की बात समझकर, मूल की गिनती में न रक्खा हो।

(४) चौथी बात यह है कि अपनी रचना में गोस्वामी जी ने किसी नियम को निभने नहीं दिया है। सब कांडों के आरम्भ में श्लोक हैं, लंकाकांड में श्लोकों के भी पहले दोहा है। इसी भाँति अयोध्याकांड के भी नियम नहीं निभे हैं।"

इसमें तो सन्देह नहीं कि इस तापस के प्रसंग से सीधे रामचरित की कोई विधि नहीं बैठती, और इससे रामकथा में कोई योग भी नहीं मिलता, किन्तु यही इसके पक्ष में और भी प्रबल प्रमाण है कि इस तापस का स्वयं कवि से कोई न कोई नाता अवश्य है। कारण यह कि यदि ऐसा न होता तो कोई इसे 'राम-चरित-मानस' में क्यों घुसेड़ देता। क्षेपक कहते समय कुछ इसका भी तो विचार होना चाहिये। हमने 'एक तापस' शीर्षक लेख में इसको सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि क्यों यह वास्तव में तुलसीदास की ही रचना है और वस्तुतः है भी यह तापस क्यों तुलसीदास ही। 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास ने इसे कहा भी है 'कवि अलपित गति'। इसमें 'कवि' तो है ही फिर चाहे उसका अर्थ कोई कुछ भी क्यों न करे, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं दिखाई देता।

धारणा है कि रामचरितमानस में जो तापस हमारे सामने आया था वही तापस ग्रामवधूटियों के प्रेम-प्रसाद से 'लोक-रीति' में पड़ गया और कुछ काल के लिये अपने इष्टदेव से थोड़ा विमुख भी हो गया, जिसकी ग्लानि उसके जीवन में बराबर बनी रही। यहाँ तक कि उसने बुढ़ापे की यातना को भी इसीका परिणाम समझा। लीजिये उसका स्वयं विषाद है—

असन-बसन-हीन विषम-विषाद-लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को।
तुलसी अनाथ सों सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो फल सील-सिन्धु आपने सुभाय को।
नीच यहि बीच पति पाय भरुआइ गो,
विहाय प्रभु भजन बचन मन काय को।
ताते तनु पेखियत, घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को।

हनुमानबाहुक, छन्द-४१

तुलसीदास ने यहाँ 'पति पाय भरुआइगो' का उल्लेख किया है तो इसके पहले 'तुलसी गुसाईं भयो' का निर्देश जिससे प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने 'लोकरीति' में पड़ना और गोसाईं होना दोनों को राम-विमुख होना ही समझा है और इसी कुकर्म का परिणाम बुढ़ापे के रोग को भी मान लिया है। तुलसीदास की प्रेम और नेम के सम्बन्ध में क्या धारणा थी, इसको भी देख लें। कहते हैं—

बढ़ि प्रतीति गठबन्ध तें, बड़ो जोग तें क्षेम।
बड़ो सुसेवक साईं ते, बड़ो नेम तें प्रेम।

दोहावली, ४७३

गोरे गात कुँवर महिमा महा मानिकै।
उनकी कहनि नीकी रहनि लखन सी की,
तिनकी गहनि जे पथिक उर आनिकै।
लोचन सजल तन पुलक मगन मन,
होत भूरि भागी जस तुलसी बखानि कै।

गीतावली, अयोध्या-२१

तुलसी ने यहाँ जो 'लोचन सजल तन पुलक मगन मन' का निर्देश किया है वही 'मानस' में 'एक तापस' के रूप में प्रगट हुआ है। और कोई आश्चर्य नहीं कि तुलसी का यह कथन सर्वथा सत्य हो कि—

ये ही अनुराग भाग खुले तुलसी के हैं।

वही, पद-२०

तुलसीदास ने अपने 'लोकरीति' में पड़ने का जहाँ तहाँ जो संकेत किया है उससे सिद्ध है कि तुलसीदास राम से नाता जोड़ने के उपरान्त ही लोक-रीति में पड़े थे। देखिये—

जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपानिधान,
एतो मान ढीठ हौं उलटि देत खोरि हौं।
करत जतन जासों जोरिबे को जोगी जन,
तासों क्योंहू जुरी, सो अभागे बैठो तोरि हौं।

विनय-पत्रिका, पद-२५८

तुलसीदास को इसे जोड़ने का अवसर कब मिला इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यहाँ यह दिखाया जाता है कि उसको तोड़ने का अवसर कब और क्यों मिला। परम्परा से प्रसिद्ध है कि तुलसीदास का विवाह बुन्देलखंड ही में कहीं हुआ। हमारी

इतना ही है कि तुलसीदास की अपनी पत्नी में आसक्ति बहुत अधिक थी और उसकी फटकार से ही सच्चा नेत्रलाभ किंवा विराग मिला।

गोस्वामी तुलसीदास के गुसाइँपन से राजापुर का जो लगाव है वह कुछ इससे भी स्फुट हो जाता है कि राजापुर के किसी मुन्नीलाल जी उपाध्याय के पास दो तीन पुराने कागद जीर्ण-शीर्ण दशा में पड़े हुए हैं; जिनमें से एक में कहा गया है कि—

"आमिलान हाल इस्तकबाल परगनै गहोरा सिरक कालींजर सूबे इलाहाबाद के···आगे प (ण्डित) मदारीलाल···(गो)साईं तुलसीदास के (वं) समै का महसूल साइर बा तिहवा तिहाव··· जी वा कलारी वा गुजर श्री जमुना जी राजापुर अमलै पर बामूजब सनद बादशाही व सूबेदारान वा राजा बुन्देल खंड··· है सो सिरकार मैं हाल है सो हसब मुवान के अमल सौ मुजाहिम ना हूजै हर साल नई सन मा गयौ ता० २१ सावन (!) सन् १२ सन् १७१९ बमुकाम बांदा।"

इसमें जो अंश विशेष महत्त्व का है वह है '···साईं तुलसीदास के ( ) समै का महसूल'। '···साईं' के पहले 'गो' लगा देने से गोसाईं तुलसीदास तो निकल आये परन्तु 'समै' के पहले 'वं' लगा देने से कुछ उलझन भी टपक पड़ी। श्री गुप्त श्री रामबहोरी शुक्ल के इस 'वं' को ठीक नहीं समझते। उनकी दृष्टि में 'वंस' के 'स' के साथ 'वं' को जोड़ना ठीक नहीं है। 'स', 'समै' का अंश है, कुछ 'वंस' का नहीं। कारण उनकी दृष्टि में यह है कि 'वंसमैं का महसूल' का प्रयोग प्रचलित नहीं। परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। ऐसा प्रयोग आज भी प्रचलित है। 'में' के साथ 'से' और 'में' के साथ 'का' का प्रयोग खड़ी बोली में आज भी होता है। यदि इसको 'समै' समझा जाय तो भी 'समै' का

एवं—

गठिबँध तें परतीति बड़ि जेहि सब कोउ सब काज।
कहब थोर समुझब बहुत गाड़े बढ़त अनाज।

वही, ४५३

और सुतिय के विषय में है उनका यह उपदेश—

सिष्य, सखा, सेवक, सचिव, सुतिय सिखावन साँच।
सुनि समुझिय मुनि परिहरिय पर मन रंजन पाँच।

फलतः हम देखते हैं कि तुलसीदास को पत्नी से उपदेश भी यही मिलता है—

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय-त्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि कै विमल विवेक विराग।

दोहावली, २५५

और तुलसीदास आचरण भी इसके अनुकूल ही करते हैं। अर्थात् 'खरिया' छोड़ कर 'विमल विवेक विराग' में मग्न हो जाते हैं और निदान सब को यह उचित सिखावन दे जाते हैं—

घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर वन बीच ही राम प्रेम पुर छाइ॥

दोहावली, २५६

आश्चर्य नहीं कि यही राम-प्रेम-पुर राजापुर हुआ हो और तुलसीदास के जीवन के इस अंश को आज भी प्रगट कर रहा हो। राजापुर की तुलसी की प्रस्तर-मूर्ति 'खरिया खरी कपूर' से भी और आगे वेषभूषा में बढ़ी चढ़ी है, और उनके 'विमल विवेक विराग' की द्योतक नहीं प्रत्युत कुछ और ही है। तुलसीदास के गृह-त्याग की जो कथा कही जाती है वह कथा अनेक सन्तों के बारे में सुनी जाती है। उसका अर्थ केवल

तुलसीदास के जन्म, कुल और नाम के विषय में जो विवाद
ठे हैं उनके बारे में विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं।
ुलसीदास का मूल नाम तुलसी ही था, इसकी व्यंजना तो उन्हीं
े एक पद से आप ही हो जाती है। तुलसीदास का स्वयं
कहना है—

> नाम तुलसी पै भौंड़े भाग सो कहायो दास,
> किये अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।
>
> कवितावली, उत्तर-१३

इससे जाना जाता है कि उनका मूल नाम तुलसी ही था,
न्तु इसको सत्य मानने में एक कठिनाई भी है। तुलसीदास ने
हीं कहीं 'रामबोला' नाम का भी उल्लेख किया है और कुछ लोगों
ने तो इसका यह निष्कर्ष भी निकाल लिया है कि तुलसीदास ने
जन्म लेते ही जो 'राम राम' कहा था उसी से उनका नाम
'रामबोला' पड़ गया। प्रत्यक्ष ही इस कथन में दिव्यता और
अलौकिकता है। तुलसीदास का 'रामबोला' नाम सम्भवतः तब
पड़ा जब राम राम के अतिरिक्त और कोई उनकी रट ही नहीं
रही। रामबोला का संकेत भी कुछ ऐसा ही है। देखिये,
उनका कहना है—

> राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम,
> काम यहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं।

और—

> साहिब सुजान जिन स्वान हूँ को पक्ष कियो,
> रामबोला नाम हौं गुलाम राम साहि को।

भी इसी रामनामी जीवन का वर्णन है, कुछ बालक तुलसी का
हीं। 'रामबोलाः राख्यो राम' की ध्वनि भी कुछ यही है।

महसूल स्पष्ट नहीं होता। 'वं' को जोड़ कर जो 'वंस' किया गया है तो 'अं' को जोड़ कर 'अंस' भी किया जा सकता है। हमारी समझ में तो इस 'अंस मैका महसूल' का अर्थ होगा मुआफ़ी का महसूल। इससे जाना जा सकता है कि उक्त 'मुआफ़ी' कभी गोस्वामी तुलसीदास को ही मिली थी और उनके 'अंश' को ही उनके शिष्य श्री गणपति उपाध्याय के वंशज भोग रहे हैं। इसके बारे में कुछ और कहना ठीक नहीं जँचता। कागद की जब तक पूरी पड़ताल न हो ले तब तक यों ही कुछ और दूर तक बुद्धि को दौड़ाना ठीक नहीं। हाँ, प्रसंगवश इतना और कह देना चाहिये कि तुलसीदास ने दो स्थलों पर कुछ ऐसा लिख अवश्य दिया है जिससे उनके वंश की कल्पना की जा सकती है। कहते हैं—

धूत कहौ अवधूत कहौ राजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न व्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ।

कवितावली, उत्तर-१०६

और दूसरा है—

तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक हैं ऐसे ठाँव,
जाके जिये मुए सोच करिहैं न लरिको।

हनुमानबाहुक, ४२

परन्तु ऐसे पदों में अभिधा कहाँ तक मान्य होगी यह विचारणीय अवश्य है। इससे आगे इस सम्बन्ध में कुछ और नहीं कहा जा सकता यद्यपि उनके परिवार के विषय में जहाँ-तहाँ लिखा बहुत कुछ गया है।

र 'विनयपत्रिका' में—

रहनि रीति राम रावरी नित हिय हुलसी है।
ज्यों भावै त्यों करु कृपा तेरो तुलसी है॥

अस्तु, इस 'हुलसी' को लेकर इससे तुलसीदास का कोई रिवारिक सम्बन्ध जोड़ लेना ठीक नहीं लगता। हाँ, यदि कोई म्बन्ध रहा हो तो आश्चर्य भी नहीं है। किन्तु झुकाव हिय की ोर ही अधिक है, और तुलसीदास ने सर्वत्र 'हिय-हुलास' के प में ही इसे अंकित किया है। तुलसीदास के गोत्र और ास्पद के विषय में भी जहाँ तहाँ कुछ न कुछ कहा गया है। लसीदास का एक पद भी इसके प्रमाण में प्रस्तुत किया गया है, ौर उसके आधार पर कहा गया है कि तुलसीदास 'सुकुल' वा ुक्ल थे—

राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि हूँ सो तन तोहिं दियो॥
दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरत खंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलप-बल्ली चहति विष फल फली॥

विनयपत्रिका, १३५

'दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर' में जो 'सुकुल' आया है यह 'सु, कुल' के रूप में ही है। क्योंकि इसी से अर्थ की संगति ठीक बैठती है। इसको भली भाँति हृदयंगम करने के लिए तुलसीदास का यह सवैया लीजिये—

भलि भारत-भूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहि कै,
करषा तजि कै परुषा बरषा हिम मारुत घाम सदा सहि कै।

तात्पर्य यह कि रामबोला सन्त तुलसीदास का नाम है, कुछ बालक तुलसी का जन्म-नाम नहीं।

तुलसीदास के पिता के नाम का तो, उनकी रचना में किसी को आज तक, कोई संकेत नहीं मिला; परन्तु माता के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि कितने दिनों से चली आ रही है कि उनकी माता का नाम हुलसी था। इस 'हुलसी' के पक्ष में एक दोहा भी प्रस्तुत किया जाता है जिसका पूर्वार्द्ध तुलसी का और उत्तरार्द्ध खानखाना रहीम का कहा जाता है। दोहा यह है—

सुर-तिय, नर-तिय, नाग-तिय अस चाहत सब कोय।
गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी से सुत होय॥

'हुलसी' शब्द का प्रयोग तुलसी ने भी बहुत किया है। 'रामचरितमानस' में जो हुलसी का प्रयोग हुआ है वह और भी विचारणीय है। कारण कि पहले तो—

शंभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, राम चरित मानस कवि तुलसी।

में 'हुलसी' क्रिया के रूप में है और फिर—

रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी, तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

में यदि 'हुलसी' संज्ञा है तो इसका सम्बन्ध तुलसी से क्या है? सन्देह नहीं कि इसमें 'हुलसी' का प्रयोग जिस ढंग पर हुआ है उसको देखते हुए तो 'हुलसी' को माता की अपेक्षा पत्नी समझना ही उचित प्रतीत होता है। 'हुलसी' का प्रयोग तुलसीदास ने 'गीतावली' में भी किया है और 'विनय-पत्रिका' में भी। 'गीतावली' में आया है—

जुग जुग कोटि कोटि करतब करनी न कछू बरनी नई।
राम-भजन महिमा हुलसी हिय तुलसी हू की बनि गई॥

गीतावली, सुन्दर-३

समझते हैं कि तुलसीदास ने जो अपनी जाति-पाँति का उत्तर स्पष्ट नहीं दिया तो उसका कारण भी कुछ न कुछ गुह्य अवश्य होगा, उनको क्या कहा जाय ? कहते हैं—

मेरे जाति-पांति न चहौं काहू की जाति-पांति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को ।
लोक-परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को ॥

अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग,
साहिब को गोत गोत होत है 'गुलाम को ।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को ॥

कवितावली, उत्तर-१०७

सचमुच अव भी ऐसे 'अति ही अयाने' लोग हैं जो यह भी नहीं जानते कि साधु-सन्त का गोत्र नहीं होता। उनको गोत्र की चिन्ता नहीं रह जाती। उनका तो अलग सम्प्रदाय बन जाता है, और तुलसी का सम्प्रदाय था प्रत्यक्ष ही रामावत। फिर तुलसी खीझ कर ऐसे 'अति ही अयाने' महात्माओं को दो टूक उत्तर नहीं देते तो और करते क्या ? फिर भी यदि इतने से सन्तोप न हो तो इतना और भी जान लें कि साधु होने से तुलसी की जाति-पाँति वढ़ी नहीं, प्रत्युत घट ही गई। कारण कि—

रटत रटत लट्यौ जाति-पांति भांति घट्यौ,
जूठिन को लालची चहौं न दूध नह्यौ हौं।

विनय, २६०

माता की भाँति ही तुलसीदास के गुरु का नाम भी उनके 'मानस' से निकाला जाता है। तुलसीदास की गुरुवन्दना है—

जु भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहि कै,
न तु और सबै विष बीज बये हर-हाटक कामदुहा नहि कै॥

कवितावली, उत्तर-३२

थोड़ा ध्यान देने से आप ही खुल जाता है कि 'कवितावली' में जो बात सामान्य रूप से कही गई है वही 'विनय' में विशेष रूप से और कवितावली का 'भले-कुल-जन्म' ही विनय में 'सुकुल जनम' हो गया है। अतः इस सुकुल को शुक्ल बनाने के लिये कोई विशेष आग्रह की आवश्यकता नहीं। हाँ, प्रसंगवश इतना अवश्य कह देने की बात है कि तुलसीदास वास्तव में श्रेष्ठ कुल के बालक ही, उनका जन्म ऐसे कुल में हुआ अवश्य था जिनसे उनको उच्च से उच्च कुल के सभी अधिकार प्राप्त थे। इसी को यों भी कहा जा सकता है कि तुलसीदास उच्च कुल के ब्राह्मण थे। उनका अन्यत्र भी कहना है—

नाहिन कछु औगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना।
ज्ञान-भवन तनु दियहु, नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना॥

विनय०, ११४

इस 'ज्ञान-भवन' का संकेत भी यही है और तुलसीदास के अध्ययन से यही सिद्ध भी होता है और प्रायः सभी लोग मानते भी यही हैं। फिर भी इतना इसलिये कह दिया गया है कि इधर कुछ लोग 'जायो कुल मंगन' का अर्थ कुछ और ही करना चाहते हैं, और उसी के बल पर तुलसीदास को किसी पापकर्म का परिणाम समझना चाहते हैं। किन्तु उनकी समझ में इतना भी नहीं आता कि ऐसी सन्तान के जन्म में बधावा नहीं बजता निदान, इसका सीधा संकेत है, दरिद्र ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न होना ही, और कोई आश्चर्य नहीं कि 'भयो परिताप पाप जननी जनक' में कुछ इसी का संकेत हो। इतने पर भी जो लोग यह

जयति निर्भरानन्द संदोह कपिकेसरी, केसरी-सुवन भुवनैक भर्ता।
दिव्य - भूम्यंजना - मंजुलाकर - मणे, भक्त - संताप - चिन्तापहर्त्ता ॥
जयति धर्मार्थ-कामापवर्गद विभो, ब्रह्मलोकादि-वैभव-बिरागी।
बचन-मानस - कर्म - सत्य - धर्मव्रती, जानकीनाथ - चरनानुरागी ॥
जयति विहगेस-बलबुद्धि-वेगाति-मद-मथन, मनमथ-मथन ऊर्ध्व-रेता।
महानाटक-निपुन-कोटि-कपिकुल-तिलक, गानगुन-गरब गन्धर्व जेता ॥
जयति मन्दोदरी-केस-कर्षन विद्यमान दसकंठ भट-मुकुट मानी।
भूमिजा-दुःख - संजात - रोषांतकृत जातना जंतु कृत जातुधानी ॥
जयति रामायन-स्रवन-संजात-रोमांच, लोचन सजल, शिथिल बानी।
रामपदपद्म-मकरंद-मधुकर पाहि दास तुलसी सरन सूलपानी ॥
विनय, २९

स्मरण रहे कि तुलसीदास ने जहाँ 'महानाटक-निपुन कोटि कपि-कुल-तिलक' कहा है वहाँ "रामायन श्रवन संजात रोमांच लोचन सजल शिथिल बानी" भी, और 'दास तुलसी सरन सूल पानी' में 'सूलपानी' तो है ही। सारांश यह कि तुलसीदास को जिस 'गुरु' की आवश्यकता थी वह सभी प्रकार से हनुमान में उपलब्ध है, और कोई कारण नहीं कि इसको क्यों न यथार्थ माना जाय कि रामायण के वृद्ध श्रोता ब्राह्मणवेषधारी घृणित हनुमान से ही उनको रामचरित का रहस्य मिला। हाँ, विचारणीय बात यह हो जाती है कि यह घटना घटी कहाँ? परम्परा काशी के पक्ष में है, किन्तु तुलसीदास के किसी पद से इसकी पुष्टि नहीं होती, और यदि होती है तो राम की राजधानी अयोध्या में ही। देखिये—

जयति विश्व-विख्यात बानैत बिरुदावली, विदुष बरनत वेद विमल बानी।
दास तुलसी-त्रास-समन सीतारमन, संग सोभित राम राजधानी ॥
विनय, २५

जयति निर्भरानन्द संदोह कपिकेसरी, केसरी-सुवन भुवनेक भर्ता।
दिव्य - भूम्यंजना - मंजुलाकर - मणे, भक्त - संताप - चिन्तापहर्ता ॥
जयति धर्मार्थ-कामापवर्गद विभो, ब्रह्मलोकादि-वैभव-विरागी।
बचन-मानस - कर्म - सत्य - धर्मव्रती, जानकीनाथ - चरनानुरागी ॥
जयति विहगेस-बलबुद्धि-वेगाति-मद-मथन, मनमथ-मथन ऊर्ध्व-रेता।
महानाटक-निपुन-कोटि-कपिकुल-तिलक, गानगुन-गरब गन्धर्व जेता ॥
जयति मन्दोदरी-केस-कर्षन विद्यमान दसकंठ भट-मुकुट मानी।
भूमिजा-दुःख - संजात - रोषांतकृत जातना जंतु कृत जातुधानी ॥
जयति रामायन-श्रवन-संजात-रोमांच, लोचन सजल, शिथिल बानी।
रामपदपद्म-मकरंद-मधुकर पाहि दास तुलसी सरन सूलपानी ॥
विनय, २९

स्मरण रहे कि तुलसीदास ने जहाँ 'महानाटक-निपुन कोटि कपि-कुल-तिलक' कहा है वहाँ "रामायन श्रवन संजात रोमांच लोचन सजल शिथिल बानी" भी, और 'दास तुलसी सरन सूल पानी' में 'सूलपानी' तो है ही। सारांश यह कि तुलसीदास को जिस 'गुरु' की आवश्यकता थी वह सभी प्रकार से हनुमान में उपलब्ध है, और कोई कारण नहीं कि इसको क्यों न यथार्थ माना जाय कि रामायण के वृद्ध श्रोता ब्राह्मणवेषधारी घृणित हनुमान से ही उनको रामचरित का रहस्य मिला। हाँ, विचारणीय बात यह हो जाती है कि यह घटना घटी कहाँ? परम्परा काशी के पक्ष में है, किन्तु तुलसीदास के किसी पद से इसकी पुष्टि नहीं होती, और यदि होती है तो राम की राजधानी अयोध्या में ही। देखिये—

जयति विश्व-विख्यात, बानैत बिरुदावली, विदुष-बरनत बेद विमल बानी।
दास तुलसी-त्रास-समन सीतारमन, संग सोभित राम राजधानी ॥
विनय, २५

वंदौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हर,
महा मोह तम पुंज जासु बचन रवि कर निकर।

रामचरितमानस, बालकांड-५

'कृपासिंधु नर रूप हर' का प्रचलित पाठ 'कृपासिंधु नर रूप हरि' पाया जाता है और इसी के आधार पर यह बताया जाता है कि तुलसीदास के गुरु का नाम था नरहरि। इस नरहरि का नाता सोरों तथा सूकरखेत, एटा तथा गोंडा, दोनों स्थानों से जोड़ा गया है। 'नरहरि' और 'नरहर' पाठ से नाम में कोई विशेष अन्तर नहीं आता, परन्तु तुलसी की भावना में बहुत भेद पड़ जाता है। हमें भूलना न होगा कि तुलसीदास ने गुरु के रूप में शंकर को ही लिया है और शंकर ही वास्तव में रामचरित-मानस के रचयिता भी हैं। तुलसीदास ने उसको जो कुछ रूप दिया है वह शंभु के प्रसाद से ही। अतः निर्विवाद होना चाहिये कि तुलसी ने 'हर' को ही नर रूप में अपना गुरु बनाया है। संक्षेप में तुलसीदास का पक्ष है—

सीतापति साहिब सहाय हनुमान नित।
हित उपदेस को महेस मानो गुरु कै॥

हनुमानबाहुक, ४३

हनुमान से जो सहायता तुलसी को मिली वह क्या थी, इसको सभी जानते हैं। तुलसीदास का हनुमान के प्रति क्या भाव था यह भी किसी से छिपा नहीं है। कहा जाता है कि हनुमान जी की कृपा से ही तुलसी को राम का दर्शन हुआ और उन्हीं के प्रताप से बन्दीगृह से मोक्ष भी। तुलसीदास के अध्ययन से इस कथन की पुष्टि होती है। तुलसीदास का एक पद लीजिए और देखिये कि उससे स्थिति को समझने में कितनी सहायता मिलती है। कहते हैं—

में इसी की व्यंजना बतायी जाती है। साथ ही यह भी विदित है कि तुलसी को राम के जिस रूप का दर्शन पहले हुआ था वह अहेरी राम का ही रूप था। तुलसीदास ने चित्रकूट को अहेरी माना भी है और स्पष्ट कहा भी है—

"खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे।"

गीतावली, अरण्य—२

अथवा—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे।

गीतावली, अरण्य—३

और यह भी स्मरण रहे कि तुलसी की दृष्टि में—

देखु राम सेवक, सुनु कीरति रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनुबान पानि प्रभु लसे मुनिपट कटि कसे भाथ।

विनय, ८४

तुलसी धनुष-बाण-धारी, मुनिवेषी राम के भक्त थे इसमें तो कुछ सन्देह नहीं; हाँ, सन्देह उनकी अहेरी राम की उपासना में हो सकता है। सो, तुलसी दुष्कृतों के विनाश के पक्षपाती थे और राम जिस मृगया में मग्न दिखाई देते हैं वह हेम-हरिन अथवा कपट-मृग किंवा राक्षस मारीच का वध है; और उसका स्थान है पंचवटी, कुछ चित्रकूट नहीं। चित्रकूट के प्रति तुलसीदास का जो अनुराग है वह केवल राम के नाते ही नहीं, अपितु प्रकृति की पावनता के कारण भी। उनका वचन है—

जहाँ बन पावनो सुहावनो बिहंग मृग
देखि अति लागत अनन्द खेद खूँट सो।
सीता-राम-लखन निवास बास मुनिन को,
सिद्ध साधु साधक सबै बिबेक-बूट सो।

एवं—

जयति सिंहासनासीन सीतारमन निरखि निर्भर हरष नृत्यकारी।
राम-संभ्राज सोभा-सहित सर्वदा तुलसिमानस-रामपुर-विहारी॥
　　　　　　　　　　　　　　　　विनय, २७

हाँ, यहाँ इतना और जान लेना चाहिये कि काशी के वर्णन में कहीं किसी हनुमान-मंदिर का उल्लेख नहीं हुआ है और न कहीं उनकी चर्चा ही हुई है। तुलसीदास का काशी में आना कब हुआ इस पर भी अभी तक पूरा पूरा विचार नहीं हुआ है। जो हो, तुलसीदास का सहज सम्बन्ध साकेत से ही है और इसे वहीं का मानना ठीक समझ पड़ता है।

तुलसीदास ने चित्रकूट को जो महत्त्व दिया है वह किसी भी दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं है। तुलसीदास ने विनय में लिखा भी है—

तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपाल।
चित्रकूट को चरित्र चेतु चित्त करी सो।—२६६

'चित्रकूट को चरित्र' से तुलसी का क्या अभिप्राय है, इसका ठीक ठीक बोध कराना अत्यन्त कठिन है। इस चरित्र का सीधा सम्बन्ध कोसलपाल से है कुछ हनुमान से नहीं, यह तो स्पष्ट ही है; किन्तु इसी के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि इसमें हनुमान का कोई हाथ ही नहीं। कहा जाता है कि हनुमान के कथनानुसार जब तुलसी को राम का दर्शन हुआ तब उनको यह प्रतीत न हुआ कि सचमुच यही उनके राम हैं। अपनी इस बुद्धि पर जब उन्हें गहरी ग्लानि हुई तब राम ने फिर प्रगट होकर उनके चन्दन का तिलक लगाया—

चित्रकूट के घाट पर भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसैं तिलक देत रघुबीर॥

की प्रसादी भरपेट मिलती रही हो; किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और है—

समरथ सुअन समीर के रघुबीर पियारे।
मोपर कीबी तोहि जो करि लेहि भिया रे।
तेरी महिमा तें चलैं चिंचिनी-चिया रे।
अँधियारो मेरी बार क्यों त्रिभुवन-उजियारे।
केहि करनी जन जानि कै सनमान किया रे।
केहि अघ-औगुन आपनो करि डारि दिया रे।
खाई खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल, बलि, आजु लौं जग जागि जिया रे।
जो तोसों होतौ फिरौं मेरो हेतु हिया रे।
तौ क्यों बदन दिखावतो कहि बचन इया रे।
तो सों ग्यान निधान को सर्वग्य बिया रे।
हौं समुझत साईं-द्रोह की गति छार छिया रे।
तेरे स्वामी राम से, स्वामिनी सिया रे।
तहँ तुलसी के कौन को काको तकिया रे?

विनय, ३३

'खाई खोंची माँगि' से तो यह ध्वनित होता है कि तुलसीदास के टूक का हनुमान से कोई इतना लगाव न था कि उनको भरपेट भोजन प्रसादी के रूप में प्राप्त हो जाता। तो भी लोग इसका निष्कर्ष यही निकालना चाहते हैं। हाँ, यह सम्भव है कि तुलसी का सम्बन्ध किसी हनुमानगढ़ी से रहा हो और वह खोंची माँग कर अपनी जीविका चलाते रहे हों।

तुलसी ने 'विनयपत्रिका' में जो हनुमान से विनय की है वह 'हनुमानबाहुक' की प्रार्थना से कुछ भिन्न है। विनय में 'साँसति' और 'संकट' का नाम तो बार बार लिया गया है पर

झरना झरत झारि सीतल पुनीत बारि
मंदाकिनी मंजुल महेस जटाजूट सो।
तुलसी जौ राम सों सनेह साँचो चाहिये,
तौ सेइये सनेह सों विचित्र चित्रकूट सो।

कवितावली, उत्तर-१४१

तात्पर्य यह कि तुलसीदास के साक्षात्कार का स्थान चाहे जो रहा हो, परन्तु चित्रकूट की महिमा के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इसी के आसपास कहीं उनको किसी प्रेत के प्रसाद से हनुमान का दर्शन भी हुआ था। यहाँ इतना और भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस घृणित वेष में तुलसी को हनुमान मिले थे, नागरीदास की दृष्टि में उसी वीभत्स रूप में अहेरी राम भी। हमारी समझ में सीधे ढंग से इसे सरलता से यों भी कह सकते हैं कि तुलसीदास भी उसी प्रकार राम की प्राकृत लीला में मोह गये थे जिस प्रकार कि उनके मानस के सभी श्रोता पात्र। इससे अधिक इस प्रसंग को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। तुलसीदास ने हनुमान की सहायता से राम का साक्षात्कार किया, इतना ही पर्याप्त है। कब, कहाँ और किस रूप में किया यह विवाद का विषय है। इससे तुलसीदास को परखने में कोई विशेष सहायता भी नहीं मिलती, अतः इसे छोड़ देखना यह चाहिए कि हनुमान के द्वारा उनका उद्धार कैसे हुआ। हनुमान पर तुलसी की जो दृष्टि है वह सहायक की ही है। तो भी तुलसी स्थल-स्थल पर यह कहते हुए पाये जाते हैं कि उनका पालन-पोषण हनुमान ने किया। और कहने को तो इन्हीं के सहारे यहाँ तक कह दिया गया है कि सम्भव है तुलसी को किसी हनुमान जी के मन्दिर से खूब लड्डू और रोट

निर्णय होना भी खेल नहीं। तथापि इसको देखकर इस प्रकार की भावना स्वयं हो जाती है और जी चाहता है कि इसका सम्बन्ध तुलसीदास के वंदिजीवन से जोड़ लिया जाय। तो क्या गोस्वामी तुलसीदास सचमुच कभी वन्दी हुए थे? साहित्यिकों की परम्परा से तो यही सिद्ध होता है, किन्तु क्या साहित्य इस क्षेत्र में प्रमाण माना जायगा और तुलसीदास के चमत्कार को इतिहास समझा जायगा?

हाँ, तुलसीदास के जीवन की सबसे बड़ी विलक्षण घटना है उनका वन्दी होना, और उनके सम्बन्ध में उस समय के इतिहास-ग्रन्थों में कहीं कुछ भी नहीं पाया जाना। तुलसी जैसे कवि के विषय में मुगल-इतिहास में कुछ भी न मिलना इस बात का पक्का प्रमाण है कि हमारा यह इतिहास किस दृष्टि से लिखा जाता था और इसका उद्देश्य भी क्या होता था। यह तो कहा नहीं जा सकता कि दीन-इलाही का प्रवर्तक पादरियों और पारसियों का सत्संगी उदार अकबर तुलसी को जानता ही नहीं था, और नहीं जानता था चिद्रूप से बार बार मिलने वाला उसका आत्मज सलीम भी। सलीम जहाँगीर बना और उसकी दृष्टि हिन्दुओं पर कुछ वक्र पड़ी तो उसने किसी संन्यासी के दो मुसलमान शिष्यों को दंड दिया। उसने पंडितों से शास्त्रार्थ किया। उसने मन्दिर भी गिरा दिये। फिर भी कभी उसका तुलसी से सामना न हुआ, यह विश्वास में नहीं आता। माना कि जहाँगीर, जहाँगीर होने पर कभी काशी नहीं आया, पर जहाँगीर बनने के पहले का कार्यक्षेत्र तो उसका इलाहाबास का सूबा ही था? और वह रहा करता भी तो इधर ही था? फिर क्या तुलसी की ख्याति उसके कानों में न पड़ी होगी? अपने शासन के प्रथम वर्ष में ही जहाँगीर शेख सलीम चिश्ती

कहीं यह नहीं कहा गया है कि वह संकट और वह 'सांसति' है क्या। 'हनुमानबाहुक' में इसको खोल कर कह दिया गया है और इसका लक्षण भी बता दिया गया है। इतना ही नहीं, एक बात और भी बड़े महत्त्व की है। विनय में हनुमान की 'बंदिछोर' की दुहाई जितनी दी गई है उतनी कहीं नहीं। तुलसी किस दृढ़ता और अभिमान के साथ कहते हैं—

ताकि है तमकि ताकी ओर को।
जाको है सब भाँति भरोसो कपि केसरी किसोर को।
जन-रंजन अरिगन-गंजन मुख-भंजन खल बरजोर को।
वेद पुरान प्रगट पुरुषारथ सकल सुभट सिरमोर को।
उथपे-थपन, थपे उथपन, पन बिबुध बृन्द बन्दिछोर को।
जलधि लाँघि, दहि लंक, प्रबल दल दलन निसाचर घोर को।
जाको बाल विनोद समुझि जिय डरत दिवाकर भोर को।
जाकी चिबुक चोट चूरन किय रद-मद कुलिस कठोर को।
लोकपाल अनुकूल बिलोकिबो चहत बिलोचन-कोर को।
सदा अभय, जय मुदमंगलमय जो सेवक रन रोर को।
भक्त कामतरु नाम राम परिपूरन चन्द चकोर को।
तुलसी फल चारों करतल जस गावत गई-बहोर को।

विनय, २१

तुलसीदास ने प्रकृत पद में जो विबुध-बृन्द-बंदिछोर कहा है तो अन्यत्र—

बंदिछोर बिरुदावली, निगमागम गाई।
नीको तुलसीदास को तेरियै निकाई॥

विनय, ३५

केवल 'बंदिछोर' की विरुदावली! अब इस बंदिछोर का सम्बन्ध तुलसीदास के निज 'बंदिछोर' से है अथवा नहीं, इसका

दास के कितना प्रतिकूल था, इसे कोई भी व्यक्ति समझ सकता है। हाँ, यहाँ पर कहने की बात यह है कि कभी जहाँगीर ने बनारस में कुछ मन्दिरों के भ्रष्ट करने का भी विचार किया था पर राजा मानसिंह के दबाव के कारण वैसा न कर सका। तात्पर्य यह कि जहाँगीर की यह नीति तुलसी के सर्वथा प्रतिकूल थी। अब्दुल लतीफ़ के यात्रा-विवरण के आधार पर श्रीराम शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मुगल बादशाहओं की धार्मिक नीति'* में इसका उल्लेख तो कर दिया है किन्तु समय बताने की चिन्ता नहीं की। अब्दुल लतीफ का यह भ्रमण संवत् १६६४–६५ में गुजरात से बंगाल तक हुआ था, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इससे पहले ही कभी जहाँगीर की यह चेष्टा हुई होगी। इधर गोस्वामी तुलसीदास की सं० १६६६ की जो प्रति 'रामगीतावली' की पाई जाती है उसमें उस हनुमान-वंदना का रूप दिखाई देता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। अतः हमारी धारणा है कि इस संवत् के पहले ही कभी तुलसीदास की जहाँगीर से मुठभेड़ हुई थी।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृतियों में जहाँ-तहाँ जो नृपाल की निन्दा की है उसका भी कुछ कारण है। कहते हैं—

वेद पुरान विहाइ सुपन्थ कुमारग कोटि कुचाल चली है।
काल कराल नृपाल कृपाल न राज समाज बड़ोइ छली है।
वर्न विभाग न आश्रम धर्म दुनी दुख दोष दरिद्र दली है।
स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रताप बली है।

कवितावली, उत्तर–७५

प्रसंगवश इतना और भी जान लें कि तुलसी के राम के

---

* 'दि रिलिजस पालिसी आव दि मोगल एम्परर्स', श्रीराम शर्मा, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९४०।

के पोते शेख अलाउद्दीन को बेटे की पदवी प्रदान करता है और पंडितों से अवतार के विषय में शास्त्रार्थ करता है। वह अपनी 'तूज़ुक' में लिखता है—

"एक दिन मैंने पंडितों से कहा कि यदि ईश्वर का १० भिन्न भिन्न शरीरों में अवतार लेना तुम्हारे धर्म का परम सिद्धान्त है तो यह बुद्धिमानों को प्रमाण नहीं। इस कल्पना में यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर जो सब उपाधियों से न्यारा है लम्बाई, चौड़ाई और गहराई भी रखता है।

"यदि यह अभिप्राय है कि उसमें ईश्वर का अंश था, ईश्वर का अंश सब प्राणियों में होता है, उसमें होने की कोई विशेषता नहीं है। और जो ईश्वर के गुणों में से किसी गुण के सिद्ध करने का प्रयोजन है तो इसमें कोई मुख्य बात नहीं, किस वास्ते कि प्रत्येक धर्म और पन्थ में सिद्ध पुरुष होते रहे हैं जो अपने समय के दूसरे मनुष्यों से समझ में बढ़ चढ़ कर थे।

"बहुत से वाद-विवाद के बाद वह लोग उस परमेश्वर को मान गये जो रूप और रेखा से विभिन्न है। कहने लगे कि हमारी बुद्धि उस परमात्मा तक पहुँचने में असमर्थ है और बिना किसी आधार के उसको पहचानने का मार्ग नहीं पा सकते, इसलिये हमने इन अवतारों को अपने वहाँ तक पहुँचने का साधना बना रखा है।

"मैंने कहा कि ये मूर्तियाँ कब तक तुम्हारे वास्ते परमात्मा तक पहुँचने का द्वार हो सकती हैं।"

जहाँगीरनामा, अनुवादक मुंशी देवीप्रसाद, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता। सन् १९०५ ई०

गद्दी पर बैठने के साथ जहाँगीर ने जो मार्ग लिया वह तुलसी

भी था। जो हो, वह काल ही ऐसा था कि लोग चमत्कारों पर विश्वास करते थे और किसी भी असामान्य घटना को चमत्कार ही समझ लेते थे। इस चमत्कार की चर्चा उस समय के इतिहासों में भी भरी पड़ी है और स्वयं अकबर के अनेक चमत्कार लिखित मिलते हैं। तुलसीदास ने एक दोहे में उस समय के कराल अनय का अच्छा रूपक बाँधा है और उस समय की परिस्थिति को भी भली भाँति व्यक्त कर दिया है। देखिये—

> काल तोपची, तुपक महि, दारू अनय-कराल।
> पाप-पलीता, कठिन-गुरु-गोला पुहमीपाल।
>
> —दोहावली, ५१५

सच पूछिये तो इसी 'गोला-पुहमीपाल' में सब कुछ आ गया है और फूट-फूटकर उस बात का रोना सुना रहा है।

२—रचनाओं का कालक्रम

तुलसीदास के जीवन की मुख्य घटनाओं पर विचार हो चुका। अब कुछ उनकी रचनाओं के काल-क्रम के विषय में भी कह लेना चाहिये। सो, तुलसीदास की रचनाओं के काल-क्रम के बारे में विद्वानों में गहरा मत-भेद है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' का रचना-काल अपने आप ही दे दिया है, और दे दिया है 'पार्वती-मंगल' के समय का भी सच्चा संकेत। श्री माताप्रसाद गुप्त की धारणा है कि 'रामाज्ञा-प्रश्न' की तिथि भी उसके एक दोहे में दी हुई है और उसी के आधार पर उन्होंने रामाज्ञा-प्रश्न का रचना-काल संवत् १६२१ माना भी है। इनके अतिरिक्त और किसी प्रबन्ध-काव्य में किसी तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, 'कवितावली', 'दोहावली' और 'विनयपत्रिका' आदि रचनाओं में कुछ ऐसे स्थल अवश्य आते हैं जिनसे उनके

जन्म-स्थान को मुगल बादशाह बाबर ने नष्ट किया और उसको 'मसीत' का रूप दे दिया। तुलसीदास ने राज-समाज और नृपाल में जो भेद किया है उसको कभी भी भूलना नहीं चाहिए। जहाँ तुलसीदास राजा को नृपाल बनाते हैं वहाँ इस नृपाल को महा महिपाल। उनका एक दोहा है—

गोड़, गँवार, नृपाल महि यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद करि केवल दंड कराल।

सारांश यह कि अपने समय के 'राज-समाज' और 'यवन महा महिपाल' पर उनकी कृपा-दृष्टि नहीं। यदि चमत्कार की माया को छोड़कर हम नागरीदास के विचार पर ध्यान दें तो स्थिति कुछ और भी सुलझ जाती है। उन्होंने अपनी 'पद-प्रसंग-माला' में इतना और भी खोल दिया है कि राजा अनूपराय बड़गूजर ने तुलसी से वैष्णवों के महत्त्व की रक्षा की प्रार्थना की। अनूपराय जहाँगीर का निकटवर्ती था, यह उसकी 'तूजुक' से सिद्ध ही है। अतः इस घटना को तथ्य के रूप में ग्रहण करने में कोई विशेष अड़चन नहीं दिखाई देती। सम्भव है कि जहाँगीर ने तुलसीदास पर कड़ाई की हो और फिर अपनी विवशता के कारण इससे विरत हो गया हो। इसके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि यह घटना दिल्ली में ही घटे। यह आगरे में भी घट सकती है। कहा जाता है, और नागरीदास ने भी यही कहा है कि तुलसीदास को सलेमगढ़ में बन्द किया गया था। मुगल काल में ग्वालियर का गढ़ और सलेमगढ़ किला प्रसिद्ध बन्दिगृह रहे हैं। सलेमगढ़ तो लालकिला के बन जाने पर मुगल-वंश का बन्दिगृह ही बन गया। इसी से प्रभावित होकर सम्भवतः नागरीदास ने भी ऐसा लिख दिया, अथवा स्वयं घटा ही ऐसा हो; क्योंकि संवत् १६६४ में चार दिन के लिये जहाँगीर वहाँ गया

कर दिया है और बहुत कुछ हमारे सामने उसी रूप में आये हैं जिस रूप में 'रामचरितमानस' में। देखिये—

कवित-रीति नहिं जानउँ, कवि न कहावउँ।
शंकर-चरित-सुसरित मनहिं अन्हवावउँ ॥ ३ ॥
पर-अपवाद विवाद विदूषित बानिहिं।
पावनि करउँ सो गाइ महेस भवानिहिं ॥ ४ ॥
जय सम्वत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिन।
अस्विनि विरच्यौं मंगल सुनि सुख छिन छिन ॥ ५ ॥

इस कथन को ध्यान में रखते हुए उनका यह कहना भी सुन लीजिये—

प्रेम पाट पट डोरि गौरि हर गुन मनि।
मंगल हार रच्यो कवि मति मृगलोचनि ॥१६३ ॥
मृगनयनि विधुवदनी रच्यो मनि मंजु मंगलहार सो।
उर धरहु जुवती जन विलोकि तिलोक सोभा सार सो ॥
कल्यान-काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा संकर प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं ॥ १६४ ॥

सुख और प्रमोद की यह फलश्रुति इस "पार्वती-मंगल" से प्राप्त है। तो भी सोचने और समझने की बात यह है कि इसमें कवि तथा कवि-मति का उल्लेख क्यों हुआ? और क्यों इसमें 'जुवती जन' का व्यवहार हुआ है? कुछ लोग 'जुवती-जन' का अर्थ 'युवती और जन' लगाना चाहते हैं और इसमें नर-नारी दोनों का विधान देखना चाहते हैं। किन्तु हम जानते हैं कि तुलसीदास को यह इष्ट नहीं। उनका भाव 'युवती' मात्र से ही है। और स्त्री जाति को लक्ष्य में रखकर ही उन्होंने इस 'मंगल' की रचना की भी है। रचना करते समय उनका कवि रूप उनको कभी नहीं भूला और इसी से आदि तथा अन्त में उसका

समय का पता लगाया जा सकता है; परन्तु साथ ही कठिनाई भी यह है कि 'दोहावली' और 'कवितावली' संग्रह-ग्रन्थ हैं और अंशतः 'विनयपत्रिका' भी संगृहीत ही है।

हाँ, तुलसीदास के ग्रन्थों के काल-क्रम-निर्धारण में सबसे अधिक श्रम किया है श्री माताप्रसाद गुप्त ने। उन्होंने हमारी समझ में सबसे बड़ी भूल यह की है कि तुलसीदास की कृतियों में कथा को मुख्य ठहराया है, कुछ राम को नहीं। हमारी दृष्टि में तुलसी के अध्ययन और उनके जीवन के विकास में राम का जो स्थान रहा है वह राम की कथा का नहीं, और उन्होंने बीच-बीच में अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वास्तव में वही वह सूत्र है जिसके द्वारा हम उनके जीवन के विकास और उनकी कृतियों के काल-क्रम को भली भाँति ठीक-ठीक परख सकते हैं। तुलसी ने अपनी कृतियों में अपने विषय में थोड़ा नहीं, बहुत कुछ कहा है, और कहा है बहुत ही ढंग से। उनके ग्रन्थों का जो रूप विद्यमान है वह उन्हीं का दिया हुआ है, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता। पर इतना कहने में तो कोई सन्देह नहीं रहा कि उनकी रचना का अधिकांश अपने सच्चे रूप में सामने आ गया है। अतः उसी को आधार मानकर रचनाओं के समय की कुछ थाह लगानी चाहिये और देखना यह चाहिये कि इस विचार से किस रचना को कौन सा समय प्राप्त है।

हाँ, तो तुलसीदास की रचनाओं में 'पार्वती-मंगल', 'जानकी-मंगल' और 'रामलला नहछू' का लगाव स्त्री-जाति से अधिक है। इसका अर्थ यह है कि तुलसीदास ने इनकी रचना में स्त्रियों का विशेप ध्यान रक्खा है। 'पार्वती-मंगल' का फल क्या है और किस प्रकार उसकी रचना हुई है, इसको तुलसीदास ने स्पष्ट

हाथ जोरि करि बिनय सबहिं सिर नावौं।
सिय - रघुबीर - बिबाह यथामति गावौं ॥

इसमें 'यथामति' का प्रयोग जानबूझ कर यह दिखाने के हेतु किया गया है कि इसका वर्णन अपनी समझ के अनुसार हो रहा है, और हो रहा है अपने इष्ट की साधना के लिये ही। प्रतीत होता है कि तुलसीदास ने जिस युक्ति से राज-विवाह को 'जानकी-मंगल' के रूप में जनता के सामने रक्खा वह भी पूरा न पड़ा। तुलसी ने राम-भजन को राज-डगर माना है और राम-विवाह को 'राज-विवाह'। है तो स्थिति यही, किन्तु इस कृति का विस्तार इतना अधिक हो गया है और इसकी रचना भी इतनी रसीली और सरल नहीं हो पाई है कि इसको लोग सहज ही अपना कंठ बना लें, अतः तुलसीदास को इसके निमित्त कोई और ही मार्ग निकालना पड़ा। 'रामलला-नहछू' इसी का फल है। *'रामललानहछू'* की रचना किस दृष्टि से किस समय हुई, इसमें बड़ा मतभेद है। कोई तो इसकी रसिकता और कविता को देखकर इसको तुलसीदास की रचना मानने में संकोच करता है और कोई इसे चढ़ती जवानी की देन समझता है। कोई तो इसे बाद की रचना बताता है और कोई यह कहता है कि अश्लीलता से ग्रामीण जनता को बचाने के विचार से ही तुलसीदास ने इसकी रचना की। बात यहीं तक नहीं रह जाती। इस कल्पना और इस अनुमान से किसी का किसी से वैसा संघर्ष नहीं होता जैसा कि इस प्रश्न पर कि वस्तुतः यह नहछू रचा कब गया? विवाह पर या उपवीत के अवसर पर। नहछू में विवाह का रूप सामने आता है। पर विवादी बोल उठता है कि इस अवसर पर राम अयोध्या में थे भी कि उनका नहछू ही वहाँ हो गया? इस छोटे से नहछू में जितनी त्रुटियाँ

उल्लेख भी हो गया। तुलसीदास की रचना बन तो गई पर इससे उनका इष्ट न सधा। इसी से उनको फिर 'जानकी-मंगल' लिखना पड़ा। 'जानकी-मंगल' की फलश्रुति यह है—

> विकसहिं कुमुद जिमि देखि बिधु भइ अवध सुख सोभा मई।
> यहि जुगुति राज बिवाह गावहिं सकल कवि कीरति नई॥
> उपवीत व्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं।
> तुलसी सकल कल्यान ते नरनारि अनुदिन पावहीं॥

इसमें 'कवि कीरति नई', 'सकल राज विवाह', 'यहि जुगुति' और 'उपवीत' विशेष विचारणीय हैं। कवि की इस नवीन कृति में विशेषता क्या है? यही न, कि इसमें जिस राम और सीता का विवाह गाया गया है उस राम-सीता का जीवन व्यापक है और उसी प्रकार यह राजविवाह है जिस प्रकार उनकी भक्ति का मार्ग राजमार्ग। कहने का भाव यह कि शिव-पार्वती के विवाह में कमी इस बात की है कि वह विशिष्ट रूप में सम्पन्न हुआ है और है वह विशेष व्यक्तियों का व्याह। सामान्यतः उस ढंग का व्याह नहीं होता। परन्तु राम-सीता का विवाह ऐसा नहीं है। गृहस्थी राम-सीता की ही ठीक मानी जाती है। इसमें स्वयंवर भी है और पिता की रुचि तथा प्रतिज्ञा भी। इसको प्रमोद या भय के रूप में नहीं लिया गया है। इसे सकल कल्याण के रूप में ही अंकित किया गया है। अब रही 'यहि जुगुति' की बात। सो विदित ही है कि यह युक्ति इसी लिये निकाली गई है कि यह 'जानकी-मंगल' घर घर का और सबका मंगल हो जाय; और यही कारण है कि इस रचना में काव्य की अपेक्षा सरलता और सुबोधता पर अधिक ध्यान दिया गया है। तुलसीदास ने कहा भी है—

बना ही है। वटु जब ब्रह्मचारी के वेष में विद्याध्ययन के निमित्त घर से प्रस्थान करता है तब कोई सगा-सम्बन्धी अथवा ऐसा ही आगे बढ़ता और उसे मनाकर वापस लाता है और कहता है कि क्यों रूठे जा रहे हो, हम तुम्हारा विवाह करा देंगे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह विवाह न होने के कारण ही घर छोड़कर भागा जा रहा हो और विवाह का वचन देकर ही उसे लौटा लाना ठीक समझा जा रहा हो। कहने का तात्पर्य यह कि यहाँ विवाह और उपवीत का बखेड़ा उठाना व्यर्थ है। आज की स्थिति तो यह है कि विवाह और उपवीत में केवल सेंदुर-दान का भेद माना जाता है।

जो लोग कहा करते हैं कि विवाह के समय राम तो मिथिला में थे, फिर यहाँ यह कृत्य कैसे हुआ, उनको तुलसीदास का अध्ययन आँख खोलकर करना चाहिये। तुलसीदास ने जहाँ तहाँ यह बता दिया है कि अयोध्या में विवाह के लिये प्रस्थान करने के पहले क्या कुछ हुआ। 'गीतावली' में कहते हैं—

गुरु आयसु मंडप रच्यो सब साज सजाई।
तुलसिदास दसरथ बरात सजि
पूजि गनेसहि चले निसान बजाई।

—बालकाण्ड, १०१

इसी को 'जानकी-मंगल' में कुछ विस्तार के साथ देखा जा सकता है—

गुनि गन बोलि कहेउ नृप मांडव छावन।
गावहिं गीत सुवासिनि बाज बधावन ॥१२७॥
सीय-राम हित पूजहिं गौरि गनेसहिं।
परिजन पुरजन सहित प्रमोद नरेसहिं ॥१२८॥

लोगों को दिखाई पड़ी हैं उतनी कदाचित् किसी भी दूसरे बड़े प्रबन्ध-काव्य में भी नहीं। अच्छा, तो इसका कारण है क्या जो विद्वानों में इतना मत-भेद खड़ा हो गया है।

हमारी समझ में तो इसका एकमात्र कारण है तुलसी के सहारे न चलकर अपने आप ही कल्पना को अति प्रखर करना और निरे अनुमान से काम लेना। हम देख ही चुके हैं कि 'जानकी-मंगल' में प्रत्यक्ष 'उपवीत व्याह उछाह' का नाम लिया गया है जिसका आशय यह होता है कि यह मंगल विवाह में ही नहीं उपवीत में भी गाया जा सकता है। सकता क्या उसमें गाने के लिये ही बना भी है। इस दृष्टि से देखने से अवगत होता है कि तुलसी के सामने उपवीत और विवाह की कोई उलझन नहीं है। दोनों का मंगल और दोनों का नहछू भी एक ही हो सकता है। प्रश्न उठता है कि इन दोनों में प्रधानता किसकी है? विवाह किंवा उपवीत की। निवेदन है, समाधान सीधा और सरल है—विवाह की और केवल विवाह की ही। बात यह है कि संस्कारों की अवहेलना होते होते हुआ यह कि यज्ञोपवीत, समावर्तन और विवाह के संस्कार एक साथ होने लगे और कुल-रीतियाँ भी सिमिट कर एक हो गईं। कुछ लोगों ने तो द्विज होने के नाते उपवीत की उपेक्षा न कर सकने के कारण विवाह के अवसर पर ही वर के गले में जनेऊ डाल देना ही यज्ञोपवीत के लिये पर्याप्त समझा; और कुछ लोगों ने इसे कन्या के यहाँ कराना ठीक न समझकर अपने यहाँ ही, विवाह से एक दो दिन पहले, इसे करा लेना ठीक समझा। इस प्रकार यज्ञोपवीत विवाह से आ मिला और समावर्तन का सर्वथा अभाव हो गया। अभाव हुआ स्वतंत्र संस्कार के रूप में, अन्यथा स्मृति अथवा चिह्न के रूप में तो वह आज भी

की है घर-घर लला के नहछू के रूप में इसे फैलने के हेतु ही। और कोई कारण भी तो ऐसा नहीं दिखाई देता कि 'जेठि' का अर्थ सगी 'जेठि' ही लिया जाय। कुल की जेठि भी तो जेठि ही है। अरे! बड़े और छोटे का सम्बन्ध पेट तक ही नहीं रहता वह घर के बाहर पूरे वंश में फैला रहता है और जिसका जो कृत्य है उसी को वह करना भी पड़ता है। स्मरण रहे, हिन्दू परिवार में ही नहीं जाति-पाँति में भी बँधा है और जाति में छोटे बड़े का बड़ा विचार है। फिर 'जेठि' की आपत्ति कैसी?

'जेठि' की भाँति ही 'नाउनि' का तर्क भी निर्मूल है यह सच है कि तुलसीदास पहले लिखते हैं—

नयन विसाल नउनिया भौं चमकावइ हो।
देइ गारि रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥ ८॥

और फिर कह जाते हैं—

नाउनि अति गुनखानि तो बेगि बुलाई हो।
करि सिंगार अति लोन तो बिहँसति आई हो॥
कनक चुनिन सों लसित नहरनी लिये कर हो।
आनँद हिय न समाय देखि रामहिं वर हो॥ १०॥

इसमें विरोध की कोई बात कहाँ आ जाती है। 'बेगि बुलाई' का अर्थ यह तो हो नहीं सकता कि वह ठीक इसी अवसर पर घर से बुलाई जाती है। हो सकता है जो गाती रही हो वही अपना अवसर आने पर वहाँ से बुलाई गई हो और सज-धज-कर आ गई हो। दूसरे, यह दूसरी भी तो हो सकती है। राजा के घर नाउन की कमी क्या? यहाँ इतना और भी समझ रखना चाहिये कि नहछू में नाउन ही मुख्य है। जो लोग उसकी रसिकता से झिझकते हैं उनको नाउन की प्रकृति पर विचार

प्रथम हरदि वेदन करि मंगल गावहिं।
करि कुल रीति कलस थपि तेलु चढ़ावहिं ॥१२९॥
× × × ×
सुनि पुर भयउ अनन्द बधाव बजावहिं।
सजहिं सुमंगल कलस वितान बनावहिं ॥१३२॥
राउ छाँड़ि सब काज साज सब साजहिं।
चलेउ बरात बनाइ पूजि गन राजहिं ॥१३३॥

विवाह के अवसर पर अयोध्या में जो कुछ हो रहा है वह 'नहछू' के प्रतिकूल तो है नहीं; हाँ, सभी कुछ नहछू के अनुकूल ही कहा जा सकता है। अतः 'रामललानहछू' के प्रसंग में विवाह और उपवीत का विवाद उठाना व्यर्थ है। पाषाण में प्राण-प्रतिष्ठा कर उसको देवता का रूप दे देना जिस जाति के लिये सुगम है, उसके लिये ऐसा कुछ उपाय रच लेना कठिन नहीं कि जिससे कोई कृत्य अथवा कुल-रीति अधूरी न रह जाय। अस्तु, हमारा कहना है कि 'रामललानहछू' की रचना नहछू के लिये ही हुई है जो विवाह तथा उपवीत दोनों अवसरों पर होता है। अब रही काव्यगत कुछ त्रुटियों की चर्चा। सो यहाँ भी यदि विवेक से देखा जाय तो कोई संकट नहीं रहता और बात आप ही बन जाती है।

कहा जाता है कि 'रामललानहछू' में ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें प्रौढ़ कलाकार—सो भी तुलसी जैसा—कर ही नहीं सकता। जैसे नहछू में कौसल्या की जेठि का उल्लेख करना, और नाउन का फिर से बुलाना आदि। पहले, पहली बात को ही लीजिये और कृपाकर भूल न जाइये कि यह नहछू इतिहास नहीं। घर घर उछाह मनाने का गान है, जो गाया जाता है परम सिद्धि के लिये ही। तुलसीदास ने 'रामललानहछू' की रचना

प्रथम हरदि बेदन करि मंगल गावहिं।
करि कुल रीति कलस थपि तेलु चढ़ावहिं ॥१२९॥
× × × ×
सुनि पुर भयउ अनन्द बधाव बजावहिं।
सजहिं सुमंगल कलस बितान बनावहिं ॥१३२॥
राउ छाँड़ि सब काज साज सब साजहिं।
चलेउ बरात बनाइ पूजि गन राजहिं ॥१३३॥

विवाह के अवसर पर अयोध्या में जो कुछ हो रहा है वह 'नहछू' के प्रतिकूल तो है नहीं; हाँ, सभी कुछ नहछू के अनुकूल ही कहा जा सकता है। अतः 'रामललानहछू' के प्रसंग में विवाह और उपवीत का विवाद उठाना व्यर्थ है। पाषाण में प्राण-प्रतिष्ठा कर उसको देवता का रूप दे देना जिस जाति के लिये सुगम है, उसके लिये ऐसा कुछ उपाय रच लेना कठिन नहीं कि जिससे कोई कृत्य अथवा कुल-रीति अधूरी न रह जाय। अस्तु, हमारा कहना है कि 'रामललानहछू' की रचना नहछू के लिये ही हुई है जो विवाह तथा उपवीत दोनों अवसरों पर होता है। अब रही काव्यगत कुछ त्रुटियों की चर्चा। सो यहाँ भी यदि विवेक से देखा जाय तो कोई संकट नहीं रहता और बात आप ही बन जाती है।

कहा जाता है कि 'रामललानहछू' में ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें प्रौढ़ कलाकार—सो भी तुलसी जैसा—कर ही नहीं सकता। जैसे नहछू में कौसल्या की जेठि का उल्लेख करना, और नाउन का फिर से बुलाना आदि। पहले, पहली बात को ही लीजिये और कृपाकर भूल न जाइये कि यह नहछू इतिहास नहीं। घर घर उछाह मनाने का गान है, जो गाया जाता है परम सिद्धि के लिये ही। तुलसीदास ने 'रामललानहछू' की रचना

की है घर-घर लला के नहछू के रूप में इसे फैलने के हेतु ही। और कोई कारण भी तो ऐसा नहीं दिखाई देता कि 'जेठि' का अर्थ सभी 'जेठि' ही लिया जाय। कुल की जेठि भी तो जेठि ही है। अरे! बड़े और छोटे का सम्बन्ध पेट तक ही नहीं रहता वह घर के बाहर पूरे वंश में फैला रहता है और जिसका जो कृत्य है उसी को वह करना भी पड़ता है। स्मरण रहे, हिन्दू परिवार में ही नहीं जाति-पाँति में भी बँधा है और जाति में छोटे बड़े का बड़ा विचार है। फिर 'जेठि' की आपत्ति कैसी?

'जेठि' की भाँति ही 'नाउनि' का तर्क भी निर्मूल है यह सच है कि तुलसीदास पहले लिखते हैं —

नयन बिसाल नउनिया भौं चमकावइ हो।
देइ गारि रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥ ८॥

और फिर कह जाते हैं—

नाउनि अति गुनखानि तो बेगि बुलाई हो।
करि सिंगार अति लोन तो बिहँसति आई हो॥
कनक चुनिन सों लसित नहरनी लिये कर हो।
आनँद हिय न समाय देखि रामहिं बर हो॥ १०॥

इसमें विरोध की कोई बात कहाँ आ जाती है। 'बेगि बुलाई' का अर्थ यह तो हो नहीं सकता कि वह ठीक इसी अवसर पर घर से बुलाई जाती है। हो सकता है जो गाती रही हो वही अपना अवसर आने पर वहाँ से बुलाई गई हो और सज-धज-कर आ गई हो। दूसरे, यह दूसरी भी तो हो सकती है। राजा के घर नाउन की कमी क्या? यहाँ इतना और भी समझ रखना चाहिये कि नहछू में नाउन ही मुख्य है। जो लोग उसकी रसिकता से झिझकते हैं उनको नाउन की प्रकृति पर विचार

करना चाहिये और यह न भूलना चाहिये कि तुलसीदास को क्या पड़ी थी और था क्या प्रलोभन कि उठती जवानी में 'रामललानहछू' की रचना करने चले और कहते-कहते यहाँ तक कह गये कि—

राम-लला कर नहछू अति सुख गाइअ हो।
जेहि गाये सिधि होइ परम निधि पाइअ हो ॥ १९ ॥
दसरथ राउ सिंघासन बैठि बिराजहिं हो।
तुलसिदास बलि जाइ देखि रघुराजहि हो ॥
जे यह नहछू गावैं गाइ सुनावइँ हो।
रिद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावइँ हो ॥ २० ॥

इतना ही क्यों, तुलसीदास का तो मत है—

जो पग नाउन धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पग धूरि सिद्ध मुनि दरसन पावइँ हो ॥
अतिशय पुहुप क माल राम उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनँद मुनि मुख जोहइ हो ॥ १४ ॥

तात्पर्य यह कि यह नहछू तुलसीदास की ही रचना है और है भक्ति-भाव से परिपूरित भक्त तुलसीदास की ही। यहाँ 'अतिशय' 'पुहुप' का विशेषण नहीं, 'सोहइ' का है। 'तिरछी चितवनि आनँद मुनि मुख जोहइ हो' में राम के जिस शील और जिस मर्यादा का दर्शन होता है वह निपुण तुलसी ही के राम हैं कुछ बालक तुलसी के कदापि नहीं। कहने का भाव यह कि 'रामललानहछू' की रचना 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' की रचना के पश्चात् हुई है और हुई है उस इष्ट-सिद्धि के हेतु जो उन मंगलों से सिद्ध न हो सकी थी। इसकी रसिकता भी कुछ तो नाउन की प्रधानता के कारण है और कुछ जन-सामान्य के मन लगाने के कारण। इसमें नाउन का परिहास

भी विदग्धता से भरा है और कुछ अजव नहीं कि लक्ष्मण को चिढ़ाने के हेतु ही ऐसा किया गया हो। नाउन के परिहास पर ध्यान दें और परिस्थिति के मूल में वैठने का कष्ट करें। वह कहती है—

काहे राम जिउ साँवर लछिमन गोर हो।
की दहुँ रानि कौसिलहिं परिगा भोर हो॥
राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्री रघुनाथ क हो॥ १२॥

इसमें सीधा लक्ष्य 'लछिमन' को ही वनाया गया है और उनको कहा भी गया है खुलकर 'आन क हो'। चिढ़चिढ़े वालकों को इस प्रकार का चिढ़ाना स्वाभाविक ही है और उधर परिहास का लक्ष्य क्रमशः कौसल्या और सुमित्रा को वनाना भी वड़े ढव का है। ऐसे विदग्ध परिहास को अश्लील नहीं कहा जा सकता और न सामान्य कवि की लेखनी से ऐसा परिहास निकल ही सकता है। और भी पते की वात तो यह है कि इस परिहास में कैकयी अछूती रह गई है। यहाँ भी वह त्याज्य हो गई है अतएव हमारी दृष्टि में 'नहछू' की रचना जानकी-मंगल के उपरांत ही हुई और हुई जन-समाज में घर करने के विचार से ही।

नहछू की भाँति ही 'वरवै *रामायण*' में भी श्रृंगार की अधिकता है जिससे कुछ लोग उसे भी तुलसीकृत नहीं मानते। 'वरवै रामायण' के वारे में यह भी कहा जाता है कि तुलसीदास ने इसे रहीम के वरवै से प्रभावित होकर रचा। परन्तु इसको मानने का कोई ठोस आधार नहीं दिखाई देता। इसकी सम्भावना तो तभी हो सकती है जव वरवै रामायण को वहुत इधर की रचना माना जाय। तुलसी और रहीम का मिलन अवश्य हुआ होगा और एक दूसरे से कुछ न कुछ प्रभावित भी अवश्य

करना चाहिये और यह न भूलना चाहिये कि तुलसीदास को क्या पड़ी थी और था क्या प्रलोभन कि उठती जवानी में 'राम-ललानहछू' की रचना करने चले और कहते-कहते यहाँ तक कह गये कि—

राम-लला कर नहछू अति सुख गाइअ हो।
जेहि गाये सिधि होइ परम निधि पाइअ हो ॥ १९ ॥
दसरथ राउ सिंघासन बैठि बिराजहिं हो।
तुलसिदास बलि जाइ देखि रघुराजहि हो ॥
जे यह नहछू गावैं गाइ सुनावइँ हो।
रिद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावइँ हो ॥ २० ॥

इतना ही क्यों, तुलसीदास का तो मत है—

जो पग नाउन धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पग धूरि सिद्ध मुनि दरसन पावइँ हो ॥
अतिशय पुहुप क माल राम उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनँद मुनि मुख जोहइ हो ॥ १४ ॥

तात्पर्य यह कि यह नहछू तुलसीदास की ही रचना है और है भक्ति-भाव से परिपूरित भक्त तुलसीदास की ही। यहाँ 'अतिशय' 'पुहुप' का विशेषण नहीं, 'सोहइ' का है। 'तिरछी चितवनि आनँद मुनि मुख जोहइ हो' में राम के जिस शील और जिस मर्यादा का दर्शन होता है वह निपुण तुलसी ही के राम हैं कुछ बालक तुलसी के कदापि नहीं। कहने का भाव यह कि 'रामललानहछू' की रचना 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' की रचना के पश्चात् हुई है और हुई है उस इष्ट-सिद्धि के हेतु जो उन मंगलों से सिद्ध न हो सकी थी। इसकी रसिकता भी कुछ तो नाउन की प्रधानता के कारण है और कुछ जन-सामान्य के मन लगाने के कारण। इसमें नाउन का परिहास

भी विदग्धता से भरा है और कुछ अजब नहीं कि लक्ष्मण को चिढ़ाने के हेतु ही ऐसा किया गया हो। नाउन के परिहास पर ध्यान दें और परिस्थिति के मूल में बैठने का कष्ट करें। वह कहती है—

काहे राम जिउ साँवर लछिमन गोर हो।
की दहुँ रानि कौसिलहिं परिगा भोर हो॥
राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्री रघुनाथ क हो॥ १२॥

इसमें सीधा लक्ष्य 'लछिमन' को ही बनाया गया है और उनको कहा भी गया है खुलकर 'आन क हो'। चिढ़चिढ़े बालकों को इस प्रकार का चिढ़ाना स्वाभाविक ही है और उधर परिहास का लक्ष्य क्रमशः कौसल्या और सुमित्रा को बनाना भी बड़े ढब का है। ऐसे विदग्ध परिहास को अश्लील नहीं कहा जा सकता और न सामान्य कवि की लेखनी से ऐसा परिहास निकल ही सकता है। और भी पते की बात तो यह है कि इस परिहास में कैकयी अछूती रह गई है। यहाँ भी वह त्याज्य हो गई है अतएव हमारी दृष्टि में 'नहछू' की रचना जानकी-मंगल के उपरांत ही हुई और हुई जन-समाज में घर करने के विचार से ही।

नहछू की भाँति ही '*बरवै रामायण*' में भी शृंगार की अधिकता है जिससे कुछ लोग उसे भी तुलसीकृत नहीं मानते। 'बरवै रामायण' के बारे में यह भी कहा जाता है कि तुलसीदास ने इसे रहीम के बरवै से प्रभावित होकर रचा। परन्तु इसको मानने का कोई ठोस आधार नहीं दिखाई देता। इसकी सम्भावना तो तभी हो सकती है जब बरवै रामायण को बहुत इधर की रचना माना जाय। तुलसी और रहीम का मिलन अवश्य हुआ होगा और एक दूसरे से कुछ न कुछ प्रभावित भी अवश्य

हुए होंगे। रहीम काशी की ओर कभी रह भी चुके थे और चित्रकूट के प्रशंसक भी कुछ कम न थे। तो भी हमको यह कहने में संकोच नहीं होता कि तुलसीदास ने बरवै रामायण की रचना अपने जीवन के पूर्वार्द्ध ही में की। उस समय उनका रहीम से प्रभावित होकर बरवै में हाथ लगाना सिद्ध नहीं हो पाता। जो लोग बरवै की रचना संवत् १९६९ में मानते हैं उनके लिये यह ठीक ठहरता है। किन्तु अपनी धारणा तो वैसी नहीं है। 'बरवै रामायण' में भक्त तुलसी का रूप नहीं दिखाई देता। उसमें तो कवि तुलसी ही दृष्टि-पथ में आते हैं। बरवै में कला पर जितना ध्यान तुलसीदास का है उतना किसी भी अन्य ग्रन्थ में नहीं। यहाँ तक कि उत्तर काण्ड में भी कहीं किसी बरवै में राम के शील, स्वभाव और गुण का उल्लेख नहीं हुआ है। हाँ, इतना निवेदन अवश्य किया गया है—

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥ ६३॥

तथा

जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब नाम सनेहु॥ ६९॥

किन्तु ऐसे छन्दों में भी राम का नाम तो लिया गया है पर राम के उस शील, उस स्वभाव और उस गुण का कहीं अंकन नहीं हुआ है जो तुलसी का सर्वस्व है। दूसरी ओर हम देखते हैं तो हनुमान सीता के वियोग का वर्णन राम से इस प्रकार करते हैं कि उसमें वह मातृबुद्धि नहीं दिखाई देती जो अन्य कृतियों में है। देखिये, कहते हैं—

सिय वियोग दुख केहि विधि कहहुँ बखानि।
फूल बान तें मनसिज बेधत आनि॥

इसके साथ ही इतना और भी टाँक रखना चाहिये कि [उत्त]रकाण्ड को छोड़ कहीं 'तुलसीदास' छाप का प्रयोग नहीं [हु]आ है। सर्वत्र 'तुलसी' मात्र का हुआ है। हाँ, उत्तरकाण्ड का [प]हला ही बरवै है—

चित्रकूट पय तीर सो सुर-तरु बास।
लखन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥

और दूसरा है—

पय बहाइ फल खाहु परिहरिय आस।
सीय राम पद सुमिरहु तुलसीदास॥

इस 'तुलसीदास' के विषय में इतना और जान लें कि तुलसी ने एक बरवै में इसकी भी सूचना दी है और कहा है :—

केहि गिनती महँ गिनती जस बन' घास।
राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥ १९॥

सारांश यह कि उत्तरकाण्ड के बरवै तब बने जब तुलसी तुलसीदास के रूप में ख्यात हो गये थे और रहते थे कदाचित् चित्रकूट में ही। चित्रकूट में अभी तुलसी राम नाम के द्वारा राम के पद में प्रेम बढ़ाते थे और उसी को चारों फल का दाता समझते थे। जो भी हो, किसी भी बरवै में तुलसी का राम के प्रति वह उल्लास नहीं दिखाई देता जो आगे चलकर उनके पद-पद से फूट निकलता है। और तो और न तो इसमें कहीं अहल्या का नाम आता है और न कहीं जटायु का। निषाद का प्रसंग भी कुछ चलता सा कर दिया गया है और उनका यह बरवै तो निरा कुतूहल वा चमत्कार पर ही आश्रित है—

तुलसी जनि पग धरहु गंग महँ साँच।
निगानांग करि नितहि नचाइहि नाँच॥

अस्तु, कुछ भी हो, इसको तो भक्त तुलसी की मानस की रचना के पश्चात् की कृति मानने में पूरा संकोच होता है। वैसे उसके पहले चाहे जब हुई हो। वास्तव में यह कोई प्रबन्ध-काव्य है भी नहीं। अतः यदा-कदा रचित बरवै का यह संग्रहमात्र भी माना जा सकता है। किन्तु किसी भी दशा में इसमें तुलसीदास के शील-विधान राम का साक्षात्कार नहीं होता। अतः हम इसको आदि-काल की रचना ही मानना ठीक समझते हैं।

'वैराग्य-संदीपिनी' की स्थिति बरवै से भिन्न है। इसकी रचना कब हुई, इसमें भी बड़ा मतभेद है। यदि तुलसी और तुलसी-दास की छाप को कसौटी मानें तो कहना होगा कि यह तुलसी की रचना है, तुलसीदास की नहीं। कारण यह कि इसमें कहीं तुलसीदास की छाप नहीं है। हाँ, एक दोहे में वह अवश्य आई है, जो है—

एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।
राम रूप स्वाती जलद चातक तुलसीदास ॥ १५ ॥

यहाँ भी कठिनाई यह है कि यही दोहा 'दोहावली' में इस रूप में मिलता है :—

एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥ २७७ ॥

यही नहीं 'वैराग्य-संदीपिनी' का प्रथम दोहा वही है जो 'दोहावली' का। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि इसकी रचना क्या वैराग्य-संदीपिनी के हेतु ही हुई? 'वैराग्य-संदीपिनी' स्फुट काव्य नहीं, कारण कि तुलसीदास ने आरम्भ में ही लिख दिया है—

तुलसी वेद पुरान मत पूरन सास्त्र विचार।
यह विराग संदीपिनी अखिल ग्यान को सार ॥७॥

एवं अन्त में भी कहा है—

यह विराग-संदीपिनी सुजन सुचित सुनि लेहु।
अनुचित बचन विचारि कै जस सुधारि तस देहु।

तुलसी को अपनी शक्ति का विश्वास नहीं है और फलतः यह रचना भी बहुत ही सामान्य हुई है। यह सच है कि तुलसी ने स्वयं कहा है—

सरल बरन भाषा सरल सरल अर्थमय मानि।
तुलसी सरलै सन्त जन ताहि परी पहिचानि।

किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस सरलता के कारण ही 'वैराग्य-संदीपिनी' की कविता अति सामान्य हो गई है। नहीं, इसका कारण तो कुछ और ही है। ध्यान से देखा जाय तो यहाँ तुलसी पर सन्त प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसमें तुलसी कुल की उपेक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कहते हैं—

तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम ॥३८॥
अति ऊँचे भूधरनि पर भुजगन के अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्नअरु पान ॥३९॥

ऊख का यह प्रयोग पूरबी है, तो कुल की यह निन्दा कबीरी। और भी—

जदपि साधु सब ही विधि हीना।
तद्यपि समता के न कुलीना ॥
यह दिन रैनि नाम उच्चरै।
वह नित मान अगिन में जरै ॥४१॥

यहाँ राम नहीं, 'नाम उच्चरै' का विधान है। तुलसीदास का एक दोहा है—

महि पत्री करि सिंधु मसि तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ ॥३५॥

यह दोहा जहाँ एक ओर 'असित गिरि समं, की सुधि दिलाता है वहाँ दूसरी ओर यह भी शंका उत्पन्न कर देता है कि यहाँ शारदा क्यों नहीं ? शारदा के स्थान पर तुलसी ने 'गनेस' का प्रयोग क्यों किया ? साथ ही यह ध्यान रहे कि यह भाव कबीर और जायसी के यहाँ भी है। कबीर का कहना है—

सात समँद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ ॥८॥
—कबीर-ग्रन्थावली

तो क्या तुलसी ने कबीर के यहाँ से यह भाव लिया है अथवा 'महिम्न स्तोत्र' के प्रसिद्ध श्लोक में ही परिवर्तन कर शारदा को गणेश बना दिया है। स्थिति कुछ भी हो, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि तुलसी को 'मानस' की रचना के उपरान्त इस प्रकार की रचना में उतर पड़ना कभी नहीं इष्ट होगा। कोई कुछ भी कहता रहे, हमें तो लगता है कि यही तुलसी की पहली रचना है और है वैराग्य की पहली संदीपिनी।

अब '*रामाज्ञा-प्रश्न*' पर भी कुछ शोध का हाथ देखना चाहिये। 'रामाज्ञाप्रश्न' शकुन-सम्बन्धी ग्रन्थ है। देखने से ही व्यक्त होता है कि इसकी रचना सिद्ध तुसली ने की होगी। किन्तु इसमें कुछ लोगों को सन्देह है। सन्देह तो सन्देह ही, श्री माताप्रसाद गुप्त ने इसके एक दोहे में संवत् का भी दर्शन कर लिया है। उनका दृढ़ मत है कि 'रामाज्ञा-प्रश्न' के इस दोहे में संवत् का निर्देश है—

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान।
होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान ॥७।७।३॥

परन्तु यह उनका शुद्ध भ्रम है। तुलसीदास ने किसी भी अन्य ग्रन्थ में इस प्रकार तिथि देने का विचार नहीं किया है। प्रसंग भी तिथि का नहीं है, शकुन देखने की विधि का है। इस विधि-विधान में काल-निर्देश की कोई आवश्यकता भी नहीं दिखाई देती। निदान इसको भ्रममात्र अथवा अपनी धारणा को तुलसीदास में ढूँढ निकालना ही मानना चाहिये। हाँ, रामाज्ञा-प्रश्न का अन्तिम दोहा विचारणीय अवश्य है, जो है—

गुन विस्वास विचित्र मनि सगुन मनोहर हारु।
तुलसी रघुबर भगत उर, बिलसत बिमल बिचारु ॥

स्मरण रहे, यही 'विमल विचारु' अन्यत्र एक दूसरे दोहे में भी है—

सुभग सगुन उनचास रस राम-चरित मय चारु।
राम भगत हित सफल सब तुलसी बिमल बिचारु ॥६।७।७॥

इस 'विमल-विचारु' के साथ ही साथ इतना और भी जान लें कि इसमें 'राम-चरित-मानस' की जहाँ तहाँ छाप भी है। किन्तु जो लोग इसे 'रामचरितमानस' से पहले की रचना मानते हैं उनकी ओर से यह कहा जाता है कि 'मानस' में उसका निखरा हुआ रूप आया है जो 'रामाज्ञाप्रश्न' में लड़खड़ाता हुआ दिखाई देता है। अतएव हम इस प्रकार की तुलना में नहीं पड़ना चाहते। हाँ, इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि इसमें तुलसी का जो नाम आया है वह विशेपरूप से मनन करने योग्य है। देखिए—

तुलसी तुलसी राम सिय सुमिरि लखन हनुमान ।
काजु विचारेहु सो करहु दिनु दिनु बड़ कल्यान ॥१।१।७॥
तुलसी तुलसी मंजरी मंगल मंजुल मूल ।
देखत सुमिरत सगुन सुभ कलपलता फल फूल ॥३।४।७॥
तुलसी कानन कमल वन सकल सुमंगल वास ।
राम भगति हित सगुन सुभ सुमिरत तुलसीदास ॥५।४।७॥
लरत भालु कपि सुभट सब निदरि निसाचर घोर ।
सिर पर समरथ राम सो साहिब तुलसी तोर ॥५।६।७॥
राम नाम रति नाम गति राम नाम विस्वास ।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल तुलसी तुलसीदास ॥६।४।७॥
राम वाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर ।
ध्यान सकल कल्यान मय सुरतरु तुलसी तोर ॥७।३।७॥
तुलसी तुलसी राम सिय सुमिरहु लखन समेत ।
दिन दिन उदउ अनन्द अब सगुन सुमंगल देत ॥७।५।७॥

आदि दोहों में तुलसी और तुलसीदास का जो रूप सामने आया है वह निश्चय ही महत्त्व का है और है प्रसिद्ध तुलसी का ही। अन्तिम दोहे में जो 'अब' शब्द आया है वही अब इस दोहे में भी है—

दस दिसि दुख दारिद दुरित दुसह दसा दिन दोष ।
फेरे लोचन राम अब सन्मुख साज सरोस ॥७।५।२॥
खेती वनिज न भीख भलि अफल उपाय कदम्ब ।
कुसमय जानब वाम-विधि राम नाम अवलम्ब ॥७।५।३॥

इसमें जिस 'कुसमय' का संकेत है उसको दृष्टि में रखकर इस दुकाल को तौलिये—

उठि विसाल विकराल बड़ कुम्भकरन जमुहान ।
लखि सुदेस कपि-भालु-दल जनु दुकाल समुहान ॥५।७।२॥

यह तो हुई दुकाल की चढ़ाई। अब उसका दलन भी देख लीजिये—

राम स्याम बारिद सघन बघन सुदामिनि माल।
बरसत सर हरषत बिबुध दसा दुकालु दयाल ॥५।७।३॥

इन दोहों से अवगत होता है कि हो न हो इस समय कभी दुकाल पड़ा था जो राम-कृपा से दूर हो गया। इतिहास से सिद्ध है कि अकबर के समय में कई दुकाल पड़े थे जिनमें से संवत् १६५५ का दुकाल प्रसिद्ध है। यह १६५२ से १६५५ तक बना रहा। तुलसीदास ने इस दुकाल का दुखड़ा 'कवितावली' में भी भरपूर रोया है। लीजिये, लिखते हैं—

दिन दिन दूनो देखि दारिद दुकाल दुख,
दुरित दुराज सुख सुकृत सकोचु है।
माँगे पैंत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
काल की करालता भले को होत पोचु है।
आपने तौ एक अवलम्ब अम्ब डिम्भ ज्यौं,
समर्थ सीतानाथ सब संकट बिमोचु है।
तुलसी की साहसी सराहिये कृपालु राम,
नाम के भरोसे परिनाम को न सोचु है।

—कवितावली, उत्तर, ८

तथा—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न, चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाईं का करीं।

हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज में सम्वत् १६५५ की जो प्रति प्राप्त हुई है वह भी द्रष्टव्य है। सम्भव है कि यह वही प्रति हो जो पंडित रामकृष्ण नामक पुरोहित के पास थी और एक बार रेल में यात्रा करते समय उनके पास से चुरा ली गई। रामाज्ञाप्रश्न के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसकी रचना इसी संवत् में प्रह्लादघाट पर हुई थी। कहते हैं कि यह गंगाराम के हित के लिये लिखी गई थी। प्रथम सर्ग का अन्तिम दोहा है—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर गो गन गंगाराम॥

इसमें आये हुए 'गंगाराम' में इसी का संकेत बताया जाता है। जो लोग गंगा और राम को अलग-अलग देखना चाहते हैं उनको गंगा की प्रसन्नता का रहस्य खोलना चाहिये। हमारी दृष्टि में तो इस व्यापक प्रसन्नता का मूल कारण है दुकाल का सर्वथा नाश ही।

तुलसीदास के सामान्य ग्रन्थों का कुछ लेखा लेने के उपरान्त अब उनके कुछ प्रमुख प्रबन्ध ग्रन्थों को लेना चाहिये। 'राम-चरितमानस' की तिथि के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं। रही 'गीतावली' सो उसके विषय में अच्छा विवाद है। 'गीतावली' को गीतावली का नाम कब मिला यह भी विवाद का विषय हो गया है। संवत् १६६६ की जो प्रति मिली है उसमें पदावली रामायण का नाम है। नाम कुछ भी रहा हो पर इससे इतना तो निर्विवाद है कि इस समय इसकी रचना हो चुकी थी। 'गीतावली' को कुछ लोग 'रामचरितमानस' के पहले की रचना मानते हैं और कुछ लोग उसके पश्चात् की। हम प्रथम पक्ष को ही साधु समझते हैं। सर्वप्रधान कारण तो यह है कि 'गीतावली'

में तुलसीदास की दृष्टि कविता पर जितनी है उतनी भक्ति पर नहीं और उनकी ख्याति भी इसमें वैसी नहीं लक्षित होती जैसी 'मानस' में। तुलसीदास स्वयं क्या चाहते हैं इसे भी देख लें तो स्थिति को समझने में और भी सुविधा हो। कहते हैं—

उपवन मृगया - बिहार - कारन गवने कृपाल,
जननी मुख निरखि पुन्य पुंज निज बिचारे।
तुलसिदास संग लीजै जानि दीन अभय कीजे,
दीजै मति बिमल गावै चरित बर तिहारे।
—गीतावली, बाल, ३७।

और होते होते उनकी रति रामचरित में इतनी दृढ़ हो गई कि उन्होंने 'गीतावली' के अन्त में राम के राज्याभिषेक पर उनसे भक्ति-दान की याचना की—

बेद पुरान बिचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।
तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति दान तब माँगि लियो॥

और अपनी 'भणित' के विषय में तुलसीदास की धारणा है—

तुलसी-भनित सबरी प्रनति रघुबर प्रकृति करुनामई।
गावत सुनत समुझत भगति हिय होय प्रभु पद नित नई॥
—गीतावली, अरण्य, १७।

तुलसी की इस कविता में भक्ति है और इस भक्ति में सगुण का आग्रह भी; किन्तु कहीं उसका खुला प्रतिपादन नहीं। तुलसीदास का जो गठा और निखरा हुआ रूप 'मानस' में दिखाई देता है उसका आभास 'गीतावली' में सभी प्रकार प्राप्त हो जाता है। प्रतीत होता है कि 'गीतावली' की रचना करने के अनन्तर तुलसीदास को अपनी शक्ति और रामकृपा पर इतना विश्वास हो गया कि उनको 'रामचरितमानस' में उतर पड़ने में

किसी प्रकार की आशंका नहीं रही। तुलसी ने करुण भावों का जैसा चित्रण 'गीतावली' में किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'गीतावली' में चित्रकूट और अयोध्या की जो स्थिति है वह 'रामचरितमानस' में नहीं। 'गीतावली' में तुलसी चित्रकूट में हैं और हैं अयोध्या में। 'मानस' में तुलसी सदा राम के साथ हैं यही कारण है कि 'गीतावली' में चित्रकूट की जो रमणीयता और अयोध्या में जो राम-वियोग का विषाद है वह 'मानस' में नहीं है। 'गीतावली' में तुलसीदास का अभिमत है—

जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन
तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि।
स्रवन सुखकरनि भव-सरिता-तरनि
गावत तुलसिदास कीरति पवनि।
—अरण्य, ५।

हमें भूलना न होगा कि तुलसी ने जो 'मानस' में बड़े अभिमान के साथ लिख दिया—

जे कवित्त बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।

वह इसी 'गीतावली' के आधार पर। जो लोग 'गीतावली' को 'मानस' के बाद की रचना बताते हैं उनको कुछ इसका भी भेद बताना चाहिये कि रामचरितमानस के पहले तुलसी की कौन सी रचना ऐसी हुई जिससे तुलसी को इतना बल मिला।

कथा-प्रबन्ध की दृष्टि से तुलसी का अध्ययन ठीक ठीक नहीं हो सकता। कारण यह कि तुलसी की दृष्टि में कथा सदा गौण रही है। उनका ध्यान तो नित्य राम में रमा रहा है और रहा है राम-रस में मग्न भी। अस्तु, तुलसी ने 'गीतावली' में राम-चरित को किस रूप में लिया है, इसे भी देख लें और कृपया

इसे भी शोध लें कि तुलसी के सामने प्रबन्ध-रचना का कोई लक्ष्य रहा है या नहीं। सो, तुलसी स्वयं अपनी कथा सुनाते हैं—

रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावहिं सकल अवधवासी।
अति उदार अवतार मनुज बपु धरे ब्रह्म अज अबिनासी॥
प्रथम ताड़का हति सुबाहु बधि, मख राख्यो द्विजहितकारी।
देखि दुखी अति सिला सापबस, रघुपति बिप्रनारि तारी॥
सब भूपन को गरब हर्यो हरि, भञ्ज्यो संभु-चाप भारी।
जनकसुता समेत आवत गृह परसुराम अति मदहारी॥
तात-बचन तजि राज-काज सुर चित्रकूट मुनि बेष धर्यो।
एक नयन कीन्हो सुरपति सुत, बधि बिराध ऋषि-सोक हर्यो॥
पंचबटी पावन राघव करि सूपनखा कुरूप कीन्ही।
खर दूषन संहारि कपटमृग गीधराज कहँ गति दीन्ही॥
हति कबंध, सुग्रीव सखा करि, बेधे ताल बालि मार्यो।
बानर रीछ सहाय अनुज सँग सिंधु बाँधि जस बिस्तार्यो॥
सकुल पुत्र दल सहित दसानन मारि अखिल सुर दुख टार्यो।
परम साधु जिय जानि बिभीषन लंकापुरी तिलक सार्यो॥
सीता अरु लछिमन सँग लीन्हें औरउ जिते दास आये।
नगर निकट बिमान आये सब नर नारी देखन धाये॥
सिव बिरंचि सुक नारदादि मुनि, अस्तुति करत बिमल बानी।
चौदह भुवन चराचर हरषित, आये राम राजधानी॥
मिले भरत जननी गुरु परिजन चाहत परम अनन्द भरे।
दुसह-वियोग-जनित दारुन दुख रामचरन देखत बिसरे॥
बेद पुरान बिचारि लगन सुभ महाराज अभिषेक कियो।
तुलसिदास जिय जानि सुअवसर भगति दान तब माँगि लियो॥

गीतावली के अन्त में कथा का सार जो इस प्रकार दे दिया गया है उसका अर्थ है इसको कथा या चरित के रूप में लेना।

किन्तु कृष्ण गीतावली में यह बात नहीं है। इसमें तुलसी का ध्यान एक ओर और भी गया है। उनका एक पद है—

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई॥
घन-धावन, बगपाँति पटोतिर, बैरख-तड़ित सोहाई।
बोलत पिक नकीब, गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई॥
चातक मोर चकोर मधुर सुक सुमन समीर सुहाई।
चाहत कियो बास बृन्दाबन बिधि सों कछु न बसाई॥
सींव न चाँपि सक्यो कोऊ तब जब हुते राम कन्हाई।
अब तुलसी गिरिधर बिन गोकुल कौन करिहि ठकुराई॥३२॥

इसमें तुलसी का ध्यान उस समय की शासन-प्रणाली की ओर भी गया है। इसके अतिरिक्त और कहीं कृष्णगीतावली में ऐसा सूत्र नहीं मिलता जिससे उसकी रचना-तिथि का कुछ ठीक-ठीक पता लगाया जा सके। वैसे तो 'मीन-मजा सों लागै' आदि के आधार पर इसे काशी की दुर्दशा के समय तक लाया जा सकता है पर यह सब कल्पना मात्र है। 'कृष्णगीतावली' इधर की रचना है इसमें सन्देह नहीं और रची गई है प्रबन्ध के रूप में। इसमें तुलसी ने अपनी सी कर दिखाई है। उनकी ब्रज-बालाएँ कहती हैं—

सब मिलि साहस करिय सयानी।
ब्रज आनियहि मनाइ पायँ परि कान्ह कूबरी रानी॥
बसैं सुबास, सुपास होहि सब फिरि गोकुल रजधानी।
महरि महर जीवहिं सुख-जीवन खुलहि मोद-मनि खानी॥
तजि अभिमान अनख अपनो हित कीजिय मुनिवर बानी।
देखिबो दरस दूसरेहु चौथेहु बड़ो लाभ, लघु हानी॥

पावक परत निषिद्ध लाकरी होति अनल जग जानी।
तुलसी सो तिहुँ भुवन गाइबी नन्दसुवन सनमानी ॥४८॥

भाव यह कि तुलसीदास ने इसे कभी जीवन के उत्तरार्ध में ही लिखा होगा और यह उचित समझा होगा कि जिस कृष्ण को लेकर चारों ओर इतनी धूम मची है उस कृष्ण को छोड़ जाना ठीक नहीं; अतः उन्होंने 'श्रीकृष्ण-गीतावली' की रचना भी कर डाली और जहाँ तहाँ कह भी दिया कि—

तुलसी जे तारे तरु किये देव दिये बरु
कै न लह्यो कौन फरु देव दामोदर तें ॥१७॥

परन्तु यहाँ भी उन्होंने अपनी अनुपम छाप लगा ही दी। लीजिये, कहते हैं—

गहगह गगन दुंदुभी बाजी।
बरषि सुमन सुरगन गावत जस हरष-मगन मुनि सुजन समाजी।
सानुज सगन ससचिव सुजोधन भये मुख मलिन खाइ खल खाजी॥
लाज गाज उनवनि कुचाल कलि परी बजाइ कहूँ कहुँ गाजी।
प्रीति प्रतीति द्रुपदतनया को भली भूरि भय भभरि न भाजी॥
कहि पारथ-सारथिहि सराहत गई-बहोरि गरीब निवाजी।
सिथिल-सनेह मुदित मन ही मन बसन बीच बिच बधू बिराजी॥
सभासिंधु जदुपति जय जय जनु रमा प्रगटि त्रिभुवन भरि भ्राजी।
जुग जुग जग साके केसव के समन-कलेस कुसाज-सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति कृष्णकृपालु-भगतिपथ राजी॥६१॥

कृष्णगीतावली के इस अन्तिम पद की अन्तिम पंक्ति में जो 'को न होइ' का प्रयोग किया गया है वह यह दिखाने के हेतु ही कि कृष्णभक्तों का ऐसा समझना कि तुलसी कृष्ण-चरित के द्रोही हैं, ठीक नहीं। कृपालु कृष्ण की कीर्ति ऐसी रम्य और कल्याणप्रद है कि उसको सुनकर सभी कृष्णभक्ति में लीन हो

जायँगे; परन्तु ध्यान देने की बात है कि उसका प्रसार ब्रज की लीला से कुछ बाहर भी है। जो हो; सीधी बात तो यह है कि तुलसीदास ने पदों में जो रामचरित लिया था वही 'रामचरितमानस' में दोहा, चौपाई, छन्द और सोरठा आदि में सज उठा और भली भाँति पक्का प्रबन्ध भी बन गया। दोनों की कथाओं में जो थोड़ा सा अन्तर आ गया उसका कारण अपने आप ही 'कथा प्रबन्ध विचित्र बनाई' में खुल गया है। सारांश यह कि 'गीतावली' मानस से पहले बनी, कुछ बाद में नहीं। यदि बाद में बनती तो उसमें भी राम में रमाने का तुलसी का दृढ़ आग्रह होता, परन्तु 'गीतावली' में ऐसा आग्रह नहीं है। निदान रचना-क्रम में उसे 'मानस' के पहले स्थान दिया जाता है।

हाँ, 'गीतावली' की रचना सूर के पदों के ढंग पर हुई। फिर आगे चलकर तुलसी ने अपना नया राजमार्ग निकाल लिया और जब उनपर कृष्णभक्तों की बौछार पड़ी तब फिर ब्रजभक्तों के ढंग पर कृष्णचरित को हाथ में ले लिया।

तुलसीदास ने 'श्रीकृष्ण-गीतावली' की रचना कब की इसका ठीक ठीक पता लगाना कुछ कठिन दिखाई देता है। कारण यह कि यह तुलसी का इष्ट विषय नहीं। कहा जाता है कि ब्रज-यात्रा में जब कृष्ण ने तुलसी की प्रार्थना पर धनुषबाण धारण कर लिया तब तुलसी ने भी उनकी वन्दना में 'कृष्ण-गीतावली' की रचना कर दी। किन्तु हम देखते हैं कि तुलसीदास अन्त में 'कृष्णकृपालु' के प्रति यही भाव व्यक्त करते हैं कि कौन ऐसा व्यक्ति है जो कृष्ण-लीला सुनकर उनके भक्ति-पथ पर सहमत न हो जायगा। कहते हैं—

जुग जुग जग साके केसव के समन-कलेस कुसाज सुसाजी।
तुलसी को न होइ सुनि कीरति कृष्ण कृपालु भगति पथ राजी॥

तुलसी ने इतना कह तो दिया किन्तु कहा 'द्रुपद तनया' के प्रसंग में कुछ व्रज-वनिता के विलाप के प्रकरण में नहीं। निदान इसका भी कुछ भेद खुलना चाहिये।

हाँ, तो 'कृष्ण-गीतावली' में तुलसी का लक्ष्य जहाँ स्त्रियों के ठेठ प्रायोगों पर है वहीं उसमें पूरे श्रीकृष्ण-चरित को संक्षेप में ला देने का संकल्प भी। इसमें भी उनके सामने व्रजलीला ही प्रधान है।

सुनि कहैं सुकृती न नन्द जसुमति सम,
न भयो न भावी नहिं विद्यमान वियो है।
कौन जानै कौनो तप कौने जोग जाग जप,
कान्ह सो सुवन तोको महादेव दियो है।
इनहीं के आये ते बधाये व्रज नित नये,
नादत बाढ़त सब सब सुख जियो है।
नन्दलाल बाल जस संत सुर सरबस,
गाइ सो अमिय रस तुलसिहु पियो है॥१६॥

निदान, जी तो कहता है कि प्रबन्ध-रचनाओं में इसको तुलसीदास का अन्तिम ग्रन्थ माना जाय और समझा यह जाय कि यह कृष्ण-भक्तों को अपने रंग में रँगने का उपाय है।

तुलसीदास के शेष ग्रन्थों में 'दोहावली' तो संग्रह मात्र है। उसकी तिथि के फेर में पड़ना ठीक नहीं।

हाँ, 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' के बारे में कुछ विचार अवश्य होना चाहिये। '*विनयपत्रिका*' जिस निश्चित उद्देश्य से लिखी गई है वह प्रत्यक्ष ही है—

विनय पत्रिका दीन की बाप आपु ही बाँचो।

से प्रगट ही है कि यह 'विनय-पत्रिका' पत्रिका के रूप में बनी और 'परी रघुनाथ सही है' से सिद्ध है कि उनके जीवन में ही कभी यह समाप्त हो गई। तुलसीदास ने इसमें यह भी लिखा है—

तुलसिदास अपनाइये कीजे न ढील अब जीवन अवधि अति नेरे।२७३।

'जीवन-अवधि अति नेरे' से वृद्धावस्था का बोध होता है तो भी यहाँ भी कठिनाई यह है कि जीवन की अवधि का कोई ठिकाना नहीं। वह साठ वर्ष के उपरान्त तो प्रति दिन आती हुई दिखाई देती है। 'विनयपत्रिका' की जो प्रति संवत् १६६६ की मिली है उसका नाम 'राम-गीतावली' है और उसकी पुष्पिका है—

इति श्री तुलसीदास रचित [राम गीता] वली समाप्त।

यदि रघुपति भक्तिर्मुक्तिदा पेक्ष्यते सा,
सकल क [लुप हर्त्री] सेवनीयाऽप्रयासात्।
शृणुत सुमति पुंसो निर्मिता राम भक्तै-
र्जग [ति तुल] सि दासै राम गीतावलीऽयम्॥

—तुलसीदास, पृष्ठ २००।

यह 'रामगीतावली' कुल १७६ गीतों की है। इसे हम 'विनयपत्रिका' के रूप में नहीं पाते। तुलसी ने इसको कब 'विनयपत्रिका' का रूप दिया यह विचारणीय है। 'विनय-पत्रिका' में इस समय कुल २७९ पद हैं और उसका अन्त होता है 'परी रघुनाथ सही है' से। 'विनयपत्रिका' को प्रबन्ध के रूप में होना था किन्तु उसके आरम्भ में कुछ ऐसे भी पद आ गये हैं जिससे उसकी प्रबन्ध-धारा में विघ्न पड़ जाता है। आरम्भ में विविध देवों की जो वन्दना की गई है सो तो ठीक

है। उसका कारण यह है कि उनसे रामभक्ति में सहायता माँगी गई है और उनके द्वारा राम तक पहुँचने का उपाय रचा गया है। परन्तु बीच-बीच में एकाध पद जो इधर-उधर के आ गये हैं वे चिन्त्य हैं। जैसे यमुना-सम्बन्धी यह पद लीजिये—

जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न।
त्यों त्यों सुकृत सुभट कलि भूपहिं निदरि लगे बहि काढ़न।
ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों त्यों जय-गन-मुख मलीन लहैं आढ़न।
तुलसिदास जगदघ जवास ज्यों अनघ मेघ लागे डाढ़न। २१।

इसका 'विनयपत्रिका' से क्या सम्बन्ध है? यमराज के नाते भी तो कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। यही दशा सब सोच विमोचन चित्रकूट की भी है। चित्रकूट की यहाँ कोई वार्ता नहीं। 'अब चित चेति चित्रकूटहि चलु' की तो और भी विचित्र स्थिति है। अवश्य ही ये पद कभी स्वतंत्र रचे गये थे और किसी ने 'विनयपत्रिका' के प्रसंग को न समझकर इनको 'विनयपत्रिका' में भी स्थान दे दिया। ये वर्तमान 'विनयपत्रिका' के भीतर तो अवश्य हैं किन्तु इनको इस पत्रिका का अंग मानना ठीक नहीं। तुलसीदास ने तो 'विनयपत्रिका' में स्पष्ट कह दिया है—

गाँव बसत बामदेव मैं कबहूँ न निहोरे।
आदिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे।
बेगि बोलि बलि बरजिये करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूध्यौ चहैं सठ साखि सिहोरे॥८॥

इसमें जिस आधिभौतिक बाधा का उल्लेख किया गया है उसको कुछ लोग शैवों का प्रकोप बतलाते हैं, किन्तु ऐसे पदों का भी 'विनय-पत्रिका' से सीधा सम्बन्ध नहीं गोचर होता। तुलसीदास तो सीधे रूप में यह चाहते हैं—

देहु कामरिपु राम चरन रति। तुलसिदास प्रभु हरहु भेद मति। ७।

सारांश यह कि 'विनयपत्रिका' की भावना तुलसीदास के हृदय में कभी उक्त संवत् १६६६ के अनन्तर ही हुई और इसके कुछ पद फलतः बने भी उसके उपरान्त ही। 'विनयपत्रिका' के अन्त के पद तो अवश्य ही विनय के रूप में रचे गये हैं और 'पत्रिका' के रूप में राज-सभा में देने की दृष्टि से बने हैं। निदान मानना पड़ता है कि यदि इधर उधर के पदों को 'विनय-पत्रिका' से छाँट दिया जाय तो विनयपत्रिका का निखरा हुआ रूप प्रबन्ध के व्यवस्थित ढाँचे में सामने आ जाय और उसकी संगति भी ठीक ठीक 'बाप आप ही बाँचो' से बैठ जाय।

विनय में भी कवितावली की भाँति कहीं कहीं साँसति और संकट की वार्ता है। यहाँ भी 'दुरित दारिद दुख' की बात कही गई है। समय की स्थिति को तुलसीदास ने एक ही पद में बाँधकर रख दिया है—

दीन दयालु दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव, दुआर पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है ॥१॥
प्रभु के बचन बेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेव मई है।
तिनकी मति रिस राग मोह मद लोभ लालची लीलि लई है ॥२॥
राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति प्रति हेतुवाद हठि हेर हई है ॥ ३ ॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत अपने अपने रंग रई है ॥ ४ ॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत हुलसत खलई है ॥५॥

परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सफल नहिं सिद्ध सई है।
कामधेनु-धरनी कलि-गोमर, बिबस बिकल जामति न बई है ॥६॥
कलि-करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मींजत, को जाने चित कहा ठई है ॥ ७ ॥
त्यों त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर ज्यों ज्यों सील बस ढील दई है।
सरुष बरजि तरजिये तरजनी, कुम्हिलैहैं कुम्हड़े की जई है ॥ ८ ॥
दीजै दादि देखि नातो बलि, मही मोद-मंगल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम अवध चितवनि चितई है ॥९॥
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है।
राम राज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत-बिजई है ॥
समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब सुकृत-सेन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर अनायास साँसति बितई है ॥
उथपे-थपन, उजार-बसावन, गई-बहोर बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत-आरति हर अभय बाँह केहि केहि न दई है ॥१३९॥

इस पद में 'साँसति बितई है' के साथ ही साथ 'करुना बारि भूमि भिजई है' का उल्लेख किया गया है। इससे और पहले 'जामत न बई है' भी सामने आ चुका। इससे पाया जाता है कि इस पद की रचना किसी दुकाल के दूर होने पर ही हुई है। ऐसा दुकाल संवत् १६५५ में था, इसे हम देख चुके हैं। यदि यह अनुमान ठीक है तो इसके आधार पर कहा जा सकता है कि इसकी रचना १६५५ के उपरान्त ही हुई होगी। तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में भी रोग का नाम लिया है—

रोग बस तनु कुमनोरथ मलिन मन,
पर अपबाद मिथ्याबाद बानी हई।
साधन की ऐसी बिधि साधन बिना न सिधि,
बिगरी बनावै कृपानिधि की कृपा नई ॥

पतित पावन, हित आरत अनाथनि को,
निराधार को अधार दीनबन्धु दई।
इन्ह में न एकौ भयो बूझि न जूझ्यौ न जयौ,
ताहि तें त्रिताप तयो लुनियत बई ॥२५२॥

प्रकृत पद में 'रोग बस तनु' और 'लुनियत बई' की जो बात कही गई है वह 'कवितावली' के कहाँ तक मेल में है इसको यथार्थ रूप में स्पष्ट करना दुस्तर है। तुलसी ने विनय में इतना और भी कहा है—

थके नयन पद पानि सुमतिबल संग सकल बिछुर्यौ।
अब रघुनाथ सरन आयो भव भय बिकल डर्यौ ॥८१॥

किन्तु इन सङ्केतों में कहीं कोई ऐसा सूत्र नहीं मिलता जिससे 'विनयपत्रिका' की किसी निश्चित तिथि का बोध हो। अनुमान से यही कहा जा सकता है कि 'विनयपत्रिका' के कुछ पद संवत् १६६६ के बाद भी बनते रहे और जब सब बन गये तब 'रामगीतावली' को 'विनयपत्रिका' का रूप मिल गया और फिर किसी प्रकार उसमें कुछ ऐसे पद भी मिल गये जिनका 'विनयपत्रिका' से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं।

'कवितावली' में तुलसीदास ने अपने रोग, दुकाल और महामारी के विषय में बहुत कुछ कहा है, किन्तु कहना यहाँ यह है कि 'कवितावली' आदि से अन्त तक कोई प्रबन्ध-रचना नहीं। हाँ, इसमें कुछ प्रबन्ध अवश्य हैं। 'कवितावली' का 'सुन्दरकांड' प्रबन्ध के रूप में ही लिखा गया है और यही स्थिति 'लंकाकांड' की भी है। शेष कांडों में 'उत्तरकांड' की स्थिति सर्वथा विचित्र है। इसमें सभी कुछ—जो दोहा और पद नहीं है और स्फुट या प्रबन्ध के रूप में रचा गया है—संकलित हो गया

है। ध्यान से देखने से पता चलता है कि इस संकलन में तीन प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें हम अंशतः प्रबन्ध के रूप में पाते हैं। इन तीनों का आरम्भ छप्पय से होता है और फिर सवैया, कवित्त और घनाक्षरी आदि में इनका क्रम चलता है इनमें से प्रथम को हम राम-स्तोत्र, द्वितीय को शिव-स्तोत्र और तृतीय को हनुमान-स्तोत्र कह सकते हैं। हनुमान-स्तोत्र तो 'हनुमान-बाहुक' के रूप में अलग मिलता भी है और इसमें एक झूलना भी है, पर शिव-स्तोत्र 'कवितावली' में ही पड़ा है। इस स्तोत्र में महामारी के विनाश की प्रार्थना की गई है। इसे हम चाहें तो महामारी का प्रबन्ध कह सकते हैं। इसी प्रकार 'हनुमान-बाहुक' को कुरोग अथवा बाहु-पीड़ा का प्रबन्ध कह सकते हैं। महामारी का नाश तो हो गया और कुरोग भी जाता रहा पर बाहु-पीड़ा का भी अन्त हो गया, ऐसा प्रतीत नहीं होता। महामारी की तिथि का पता लगाया जा सकता है। कारण यह कि उसमें रुद्र-बीसी और मीन के शनैश्चर का उल्लेख है। तुलसी कहते हैं—

बीसी बिस्वनाथ की बिसाद बड़ो बारानसी,
बूझिये न ऐसी गति संकर सहर की।

—उत्तरकांड, १७०।

'संकर सहर' की कैसी गति है, इसे भी देख लें और देख लें कलिकाल की करालता को भी। कहते हैं—

संकर-सहर सर नर नारि बारिचर,
बिकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगत जल थल मीचु मई है।

देव न दयालु महिपाल न कृपालु चित,
बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज पाहि कपिराज राम दूत
राम हू की बिगरी तुहीं सुधारि लई है।

—उत्तरकांड, १७६।

काल की करालता तो है ही, किसी की मति भी ठौर-ठिकाने नहीं है। लीजिये—

"एक तो कराल कलि-काल सूल मूल तामैं,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
वेद-धर्म दूरि गये, भूमिचोर भूप भये,
साधु-सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की।
दूबरे को दूसरो न द्वार राम दया धाम,
रावरीई गति बल-बिभव-बिहीन की।
लागैगी पै लाज वा विराजमान बिरुदहि
महाराज आजु जौ न देत दाद दीनकी।"

—उत्तरकांड, १७७।

इस महामारी का अन्त कैसे हुआ, इसका समाधान तुलसी के मुँह से सुनिये—

आस्रम बरन कलि-बिबस बिकलभय,
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
संकर सरोस महामारि ही तें जानियत,
साहिब सरोस दुनी दिन दिन दारदी।
नारि नर आरत पुकारत सुनै न कोउ,
काहू देवतनि मिलि मोटी मूठि मार दी।

तुलसी सभीत पाल सुमिरे कृपालु राम,
समय सुकरुना सराहि सनकार दी।
—उत्तरकांड, १८३।

यह तो हुई महामारी की इति, जिसका सम्बन्ध 'मीन की सनीचरी' से है, जिसका भोग चैत्र शुक्ल २ संवत् १६६९ से ज्येठ संवत् १६७१ तक रहा है। अतएव इस महामारी का प्रकोप भी इसी समय में कभी रहा होगा। 'वारानसी वाढ़ति अनीति नित नई है' से यह तो ध्वनित नहीं होता कि यह रोग ही नया है, किन्तु कुछ न कुछ इसका भी समावेश यहाँ हो सकता है। कुछ लोगों की धारणा है कि यह महामारी ताऊन या प्लेग है। ताऊन के विषय में जहाँगीर ने अपनी तूज़ुक में सं० १६७३ के भादों से जो कुछ लिखा है उससे सिद्ध होता है कि ताऊन का प्रकोप पहले पंजाब में हुआ और हुआ संवत् १६७२ में उसका आरम्भ और माघ सुदी २ संवत् १६७५ को आगरे के विषय में उसने जो कुछ लिखा है उससे विदित होता है कि आगरे में संवत् १६७३ में ताऊन का आरम्भ हुआ। काशी में भी कभी यह रोग फैला, इसका पता नहीं। ऐसी स्थिति में यह मानना कहाँ तक संगत होगा कि काशी की यह महामारी वस्तुतः यही महामारी थी। परन्तु भूलना न होगा कि तुलसी ने भूपाल की कठोरता का नाम कई बार इस प्रसंग में लिया है, तो भी एक और बात चिन्त्य यह हो जाती है कि तुलसी ने कहीं चूहे का उल्लेख नहीं किया है जो इस रोग का दूत है। 'बाहु-पीर' का नाम उन्होंने अवश्य लिया है। साथ ही इतना और भी कह दिया है कि—

बात तरुमूल बाहु सूल कपि कच्छु बेलि,
उपजी सकेलि कपि खेल ही उखारियें।
—हनुमानबाहुक, २४।

तो क्या तुलसीदास इसको वात का प्रकोप समझते थे? तुलसीदास इतना और निर्देश करते हैं—

"करम कराल कंस भूमिपाल के भरोसे,
बकी-बक भगिनी काहू ते कहा डरैगी।
बड़ी विकराल बाल-घातिनी न जात कहि;
बाहु-बल बालक छबीले छोटे छरैगी।
आई है बनाइ वेष आप तू विचारि देख,
पाप जाय सबको गुनी के पाले परैगी।
पूतना पिसाचिनी ज्यों कपि कान्ह तुलसी की,
बाहु-पीर महावीर तेरे मारे मरैगी।"

—वही, २५।

धीरे धीरे यह वाहु-पीड़ा समस्त शरीर में व्याप्त हो जाती है—

पायँ-पीर, पेट-पीर, बाहु-पीर, मुँह-पीर,
जरजर सकल सरीर पीर-मई है।

—वही, ३८।

इस पीड़ा का रहस्य क्या है? इसको खोलने के लिए इतना और भी जान लें—

"तातें तनु पेषियत घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निकसत लोन राम राय को।"

अन्त में निराश होकर तुलसीदास इसे अपना कर्म-विपाक समझकर मौन हो रहते हैं—

तुमतें कहा न होय, हा हा! सो बुझैये मोहिं,
हौं हूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिये।

—वही, ४४।

तुलसीदास का अवसान इसी रोग से हुआ अथवा नहीं इसका विचार करने से पहले यह बता देना चाहिये कि बाहु-पीड़ा के जो अवतरण दिये गये हैं वे हनुमान-बाहुक के हैं, महामारी के प्रसंग से उनका कहाँ तक लगाव है यह भी विचारणीय है। कहना तो यह चाहिये कि महामारी के विनाश की मुख्य स्तुति हुई है शंकर से और बाहु-पीड़ा के निर्मूलन की हनुमान से; राम तो सर्वत्र हैं ही। दोनों के नाश का उल्लेख भी अलग अलग है। राम की कृपा से महामारी का अन्त कैसे हुआ यह पहले आ चुका है। तुलसी ने इस 'पीर' के विषय में लिखा है—

> घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यों,
> बासर जलद घन घटा धुकि धाई है।
> बरसत बारि पीर जारिये जवासे जस,
> रोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है।
> करुना-निधान हनुमान महा बलवान,
> हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं तैं उड़ाई है।
> खायो हुतो तुलसी कुरोग-राढ़ राकसनि,
> केसरी - किसोर राखे बीर बरियाई है।
>
> —हनुमानबाहुक, ३५।

फलतः मानना पड़ता है कि तुलसी इस बाहु-पीड़ा से भी एकबार मुक्त हो गये थे। यह घटना कब घटी यह नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास अन्यत्र भी बताते हैं—

> मारिये तो अनायास कासीबास खास फल,
> ज्याइयो तो कृपा करि निरुज सरीर हौं।
>
> —कवितावली, उत्तर, १६६।

हमें तो ऐसा भासता है कि तुलसीदास अपने अन्तिम दिनों में वात-ग्रस्त हो गये थे और इसी की पीड़ा जब-तब उभरा करती थी। आश्चर्य नहीं कि उनका शरीरान्त भी इसी से हुआ हो। 'कवितावली' की रचना-तिथि तुलसीदास के जीवन के साथ-साथ चलती है। इसे कम से कम संवत् १६७१ तक तो माना ही जा सकता है और अधिक से अधिक संवत् १६८० क्योंकि यही सर्वसम्मत तुलसी का निधन संवत् है।

'कवितावली' की भाँति ही 'दोहावली' भी संगृहीत ग्रन्थ है। इसमें भी 'चातक-चौंतीसा' की रचना तो एक साथ, एक लक्ष्य से हुई है पर दोहे यदा-तदा बनते रहे हैं। इसमें कुछ दोहे ऐसे भी आ गये हैं जिनका सम्बन्ध उक्त बीसी और उक्त पीड़ा से भी है। कहते हैं—

अपनी बीसी आपु ही पुरिहि लगाये हाथ।
केहि बिधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ ॥२४०॥

तथा—

तुलसी तनु-सर सुख-जलज भुज-रुज-गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिये कपि केसरी-किसोर ॥२३४॥
भुज-तरु-कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस।
बिहँग राज बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस ॥२३५॥
बाहु-बिटप सुख बिहँग थलु लगी कुपीर कुआगि।
राम कृपा जल सींचिए बेगि दीन हित लागि ॥२३६॥

राम-कृपा से इस पीर का अन्त हुआ अथवा स्वयं तुलसी का इसका निर्णय अभी तक न हो सका। हाँ, प्रसिद्ध यह है कि तुलसीदास के मुँह से अन्त में निकला—

राम-नाम जस बरनि कै भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, तुरत तुलसी सौन ॥

तुलसीदास का अवसान इसी रोग से हुआ अथवा नहीं इसका विचार करने से पहले यह बता देना चाहिये कि बाहु-पीड़ा के जो अवतरण दिये गये हैं वे हनुमान-बाहुक के हैं, महामारी के प्रसंग से उनका कहाँ तक लगाव है यह भी विचारणीय है। कहना तो यह चाहिये कि महामारी के विनाश की मुख्य स्तुति हुई है शंकर से और बाहु-पीड़ा के निर्मूलन की हनुमान से; राम तो सर्वत्र हैं ही। दोनों के नाश का उल्लेख भी अलग अलग है। राम की कृपा से महामारी का अन्त कैसे हुआ यह पहले आ चुका है। तुलसी ने इस 'पीर' के विषय में लिखा है—

घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यों,
बासर जलद घन घटा धुकि धाई है।
बरसत बारि पीर जारिये जवासे जस,
रोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है।
करुना-निधान हनुमान महा बलवान,
हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं तैं उड़ाई है।
खायो हुतो तुलसी कुरोग-राढ़ राकसनि,
केसरी - किसोर राखे बीर बरियाई है।

—हनुमानबाहुक, ३५।

फलतः मानना पड़ता है कि तुलसी इस बाहु-पीड़ा से भी एकबार मुक्त हो गये थे। यह घटना कब घटी यह नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास अन्यत्र भी बताते हैं—

मारिये तो अनायास कासीबास खास फल,
ज्याइयो तो कृपा करि निरुज सरीर हौं।

—कवितावली, उत्तर, १६६।

हमें तो ऐसा भासता है कि तुलसीदास अपने अन्तिम दिनों में वात-ग्रस्त हो गये थे और इसी की पीड़ा जब-तब उभरा करती थी। आश्चर्य नहीं कि उनका शरीरान्त भी इसी से हुआ हो। 'कवितावली' की रचना-तिथि तुलसीदास के जीवन के साथ-साथ चलती है। इसे कम से कम संवत् १६७१ तक तो माना ही जा सकता है और अधिक से अधिक संवत् १६८० क्योंकि यही सर्वसम्मत तुलसी का निधन संवत् है।

'कवितावली' की भाँति ही *'दोहावली'* भी संगृहीत ग्रन्थ है। इसमें भी 'चातक-चौंतीसा' की रचना तो एक साथ, एक लक्ष्य से हुई है पर दोहे यदा-तदा बनते रहे हैं। इसमें कुछ दोहे ऐसे भी आ गये हैं जिनका सम्बन्ध उक्त बीसी और उक्त पीड़ा से भी है। कहते हैं—

अपनी बीसी आपु ही पुरिहि लगाये हाथ।
केहि बिधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ ॥२४०॥

तथा—

तुलसी तनु-सर सुख-जलज भुज-रुज-गज बरजोर।
दलत दयानिधि देखिये कपि केसरी-किसोर ॥२३४॥
भुज-तरु-कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस।
बिहँग राज बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस ॥२३५॥
बाहु-बिटप सुख बिहँग थलु लगी कुपीर कुआगि।
राम कृपा जल सींचिए बेगि दीन हित लागि ॥२३६॥

राम-कृपा से इस पीर का अन्त हुआ अथवा स्वयं तुलसी का इसका निर्णय अभी तक न हो सका। हाँ, प्रसिद्ध यह है कि तुलसीदास के मुँह से अन्त में निकला—

राम-नाम जस बरनि कै भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, तुरत तूलसी सौन ॥

और फलतः आज माना जाता है कि—

सम्वत् सोलह सै असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज सनि, तुलसी तजे सरीर॥

यह तिथि गणना से जहाँ ठीक उतरती है वहीं तुलसी के मित्र टोडर के घराने में तुलसी की वर्षी की तिथि भी मानी जाती है। अतएव इसी को अब सब लोग उनकी निधन तिथि मानते हैं। 'सावन-सुक्ला-सप्तमी' की बात अब पुरानी ही नहीं अग्राह्य भी हो चुकी है। यद्यपि "मूल-गोसाईं-चरित" के प्रमाण पर कुछ लोग इसको उनकी 'जन्म-तिथि' मानते हैं और संवत् १६८० को संवत् १५५४ का द्योतक समझते हैं।

वैसे तो तुलसीदास के मुख्य ग्रन्थों की चर्चा हो चुकी। किन्तु इधर कुछ विद्वानों ने 'तुलसी-सतसई' को भी उनकी प्रामाणिक रचना मानने का कष्ट कर लिया है। उनको 'सतसई' में दो दोहे ऐसे काम के मिल भी गये हैं जिनसे सहज ही उनका इष्ट सध जाता है। उनमें से पहला दोहा है—

अहि रसना थनधेनु रस गनपति द्विज गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार॥११९॥

इस प्रकार वैशाख शुक्ल ९ गुरुवार संवत् १६४२ इसकी रचना-तिथि ठहरती है, जो तुलसीदास की संवत् प्रणाली के विरुद्ध है। हाँ, प्रचलित संवत्-प्रणाली से ठीक उतरती है। दूसरा दोहा है—

रवि चंचल अरु ब्रह्म द्रव बीच सुबास बिचार।
तुलसिदास आसन करे अवनि-सुता उरधारि॥२६४॥

यह आधुनिकता का द्योतक है क्योंकि संवत् १६४२ में तुलसीदास अस्सी घाट अथवा लोलार्क और गंगा के बीच में

नहीं रहते थे। यहाँ तो अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपना निवास बनाया था। पहले उनका निवास प्रह्लादघाट अथवा उधर ही कहीं गोपाल-मन्दिर के पास था जहाँ पर रहकर उन्होंने 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'विनयपत्रिका' की रचना की। 'तुलसी-सतसई' का एक और दोहा है—

नाम जगत सम समुझु जग, वस्तु न करु चित चैन।
विन्दु गये जिमि गैन रहत ऐन को ऐन ॥३९२॥

भला गोस्वामी तुलसीदास कभी अरबी के ऐन ع गैन غ के इस चक्कर में पड़ सकते थे? एक दूसरा दोहा लीजिये—

तुलसी जानत है सकल चेतन मिलत अचेत।
कीर जात उड़ि तिय निकट बिनहिं पढ़े रति देत ॥१६२॥

क्या गोस्वामी तुलसीदास को संवत् १६४२ में इसी प्रकार के उदाहरणों की आवश्यकता पड़ती रही होगी? यदि सतसैया के रचयिता का पूरा रूप देखना हो तो उसका वह प्रकरण पढ़ें जिसमें रामचरितमानस के ढंग पर कविता की नदी बहाई गई है। देखिये, कैसी दिव्य धारा है—

प्रेम उमगि कवितावली चली सरित सुचि सार।
राम बरा पुरि मिलन हित तुलसी हरख अपार ॥४१३॥
तरल तरंग सुछन्द बर हरत द्वैत तरु मूल।
वैदिक लौकिकि विधि विमल लसत विसद वर कूल ॥४१४॥
संत-सभा विमला नगरि सकल-सुमंगल-खानि।
तुलसी-उर सुर-सर सुता लसत सुथल अनुमानि ॥४१५॥
मुकत मुमुच्छु वर विषयि सोता त्रिबिध प्रकार।
ग्राम नगर पुर जुग सु-तट तुलसी कहहिं बिचार ॥४१६॥

यह और कुछ नहीं—

दाइज अमित न सकिय कहि, दीन्ह विदेह बहोरि ।
जो अवलोकत लोकपति लोक सम्पदा थोरि ॥

का खाता खोला गया है और किसी प्रकार जनक के यहाँ से ढूँढ निकाला गया है। स्वान ही नहीं अपितु—.

सवा लाख पिंजर सज्यो कचन-खचित बिचित्र ।
सुक सारिका मराल बहु बाज कुही सुचि मित्र ॥
बाज कुही सुचि मित्र सिया रुचि के प्रतिवाले ।
ते सेवक सब लिये जानकी सेवन वाले ॥
सेवन वाले भाग बड़ जगत जननि जेहिं जग सृज्यो ।
तासु संग यह कौन बड़ सवा लाख पिंजर सज्यो ॥

—वही, १६४।

सचमुच यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास के नाम से ऐसी रचना भी चल निकली और प्रकाश में भी आ गई सजधज से। हाँ, आश्चर्य है तो यही है कि इसमे गोस्वामी तुलसीदास की आत्मा की परख नहीं, उनके ग्रन्थों का कुछ लेख अवश्य है। गोस्वामी तुलसीदास के तथाकथित नामधारी अन्य ग्रन्थों के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

तुलसीदास की जीवनी तथा उनकी कृतियों के अध्ययन में कथावस्तु को प्रधानता देने के कारण जो ऊहापोह और उलझन हुई है वह वैज्ञानिक खोज के कारण और भी बढ़ गई है। अपने यहाँ की मीमांसा की सरल और साधु प्रणाली को छोड़कर पश्चिम की तालिका और आँकड़े की प्रणाली पर चल पड़ने का परिणाम यह हुआ है कि तुलसीदास का अध्ययन बहुत

कुछ काल्पनिक और ऊपरी हो गया है। तुलसीदास ने अपने तथा अपने राम के विषय में जो कुछ कहा है और अपनी ख्याति तथा अपनी भक्ति के उत्कर्ष को जिस रूप में अंकित किया है वह उनके जीवन तथा काव्य के विकास में प्रकाश का काम करता है। तो भी, आजकल के विलक्षण वैज्ञानिक खोजियों ने उनकी उपेक्षा की है और कथा-वस्तु को मुख्य ठहरा कर उनकी कृतियों के काल-क्रम को भाँप सा लिया है। 'रामचरितमानस' की कथा कुछ सोच-समझकर ही बनाई गई है। तुलसीदास की यह रचना निराली है। कथा के रूप में इसमें सीता का परित्याग नहीं है, पर इसका प्रसंग है। प्रथम सोपान अथवा बालकांड में ही स्पष्ट मिलता है—

जेहि यह कथा सुनी नहीं होई। जनि आचरज करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी॥
राम कथा कै मिति जग नाहीं। अस प्रतीति तिन्हके मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥
करिअ न संसय अस डर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहि जिनके बिमल बिचार॥३८॥

येहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुर पद पंकज धूरी॥
पुनि सबहीं बिनवौं कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी॥
सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनौं बिसद राम गुन गाथा॥
संवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरीं यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम जनम स्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं॥
असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा॥
जनम महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना॥

मज्जहिं सज्जन वृन्द बहु पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुन्दर स्याम सरीर॥

—बाल, ३९।

दुःख तो यह देखकर होता है कि हमारे आधुनिक वैज्ञानिक विद्वानों ने न तो 'कथा-प्रबन्ध बिचित्र बनाई' पर ही ध्यान दिया और न 'अवधपुरीं यह चरित प्रकासा' के मर्म को ही समझा। देखिये तो डाक्टर माताप्रसाद गुप्त की चिन्ता क्या है और किस ढब से इसी शोध के पीछे कह क्या जाते हैं। लीजिये, उनकी विवेचना है—

सुर समूह विनती करि, पहुँचे निज निज धाम।
जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम॥

—बाल, १९६।

सारांश यह कि राम का जन्म मध्य-दिवस में नवमी तिथि को हुआ था और संवत् १६३१ में मध्य-दिवस में नवमी तिथि भौमवार ही को थी, बुधवार को नहीं। निदान तुलसीदास का कथन सर्वथा साधु और निर्भ्रांत है। उसको लेकर नाना प्रकार का ननुनच करना ठीक नहीं, वितंडा है।

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना बहुत कुछ सोच-विचार कर की है। उन्होंने जो कुछ उसके सम्बन्ध में कहा है यदि उसी को सहारा मानकर हम चलें तो हमारी सारी कठिनाइयाँ आप ही दूर हो जायँ और हमको भाँति भाँति के तर्क-वितर्क में मूड़ मारना भी न पड़े। तुलसीदास ने इतनी बड़ी भूमिका यों ही नहीं बाँधी है। नहीं, उनके मानस में पैठने के निमित्त ऐसा अनिवार्य था। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के सम्प्रदाय को खोलकर सामने रख दिया है और अवतार के नाना कारणों का उल्लेख कर प्रधानता दो ही को दी है। राम के अवतार का मुख्य कारण है मुनि, सिद्ध, सुरेश, गो, द्विज आदि का आर्त होना। परन्तु राम के रूप में प्रगट होने का मुख्य कारण है 'कस्यप' और 'अदिति' का महातप एवं नारद का शाप। सुनिए न, गगन-गिरा क्या है—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहौं नर बेसा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लैहौं दिनकर बंस उदारा॥
कस्यप अदिति महा तप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥

सम्वाद

हाँ, तो तुलसीदास के मानस का सर्वस्व है उसका सम्वाद ही। कहा भी है—

सुठि सुन्दर सम्वाद वर विरचे बुद्धि विचारि।
तेइ यहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि ॥—४१।

सत प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना ॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ वर बारि अगाधा ॥
राम-सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम ॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई ॥
छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुबासा ॥
सुकृत पुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला ॥
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी ॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जल चर चारु तड़ागा ॥
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना ॥
संत सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा ऋतु बसन्त सम गाई ॥
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना ॥
सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रस बर बेद बखाना ॥
औरो कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा ॥

पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु ॥

—बाल, ४१-४२

राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥
चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा॥५२॥

भरद्वाज का इष्ट यही था भी, इसमें सन्देह नहीं। कारण यह कि उन्होंने फिर कभी यह स्वीकार नहीं किया कि इस कथा के श्रवण से मेरा 'संशय', 'भ्रम' किंवा 'मोह' दूर हो गया। याज्ञवल्क्य ने बड़ी चातुरी से भरद्वाज के सामने पार्वती को प्रस्तुत कर दिया और अब पार्वती का प्रश्न हुआ—

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी॥
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥
तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥
राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥

जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमत बुद्धि अति मोरि॥

—बाल, ११३।

पार्वती इसी प्रसंग में इतना और भी जोड़ जाती हैं—

तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं।

विमोह की स्थिति में उनका चिन्त्य यह था—

संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृप सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानन्द परधामा॥
भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥५५॥

बिस्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सरवग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥
संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सरबग्य जान सब कोई॥५६॥

गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।
भएउ राम पद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥
मोहि भयेउ अति मोह प्रभु बन्धन रन महुँ निरखि।
चिदानंद संदोह रामु बिकल कारन कवन॥
देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं जाना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना॥
—उत्तर, ६८१।

उधर गरुड़ के हृदय में जो तर्क उठा था वह था—

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतरा सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥
भव बंधन तें छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्व निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥५८॥

तात्पर्य यह कि गरुड़ की स्थिति कुछ पार्वती से भिन्न है और भिन्न है कुछ भरद्वाज से भी। भरद्वाज की भाँति गरुड़ केवल राम-चर्चा नहीं चाहते हैं और न पार्वती की भाँति उनको राम के परम रूप में कुछ आपत्ति ही है। उनको तो संशय होता है राम के नर-अनुसारी चरित को देखकर। राम की प्राकृत-लीला ही गरुड़ को मोहती है, कुछ उनका परम स्वरूप नहीं। गरुड़ हैं भी तो विष्णु के वाहन। निदान गरुड़ माया से मुक्त होकर भुसुण्डि से कहते हैं—

मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति रस सानी॥
राम चरन नूतन रति भई। माया जनित बिपति सब गई॥१२॥

'मानस' के इन तीनों सम्वादों के श्रोताओं में गरुड़ और पार्वती तो अपनी अपनी कह जाते हैं पर भरद्वाज अन्त में कुछ भी कृतार्थता नहीं दिखाते। उन्होंने कहीं भी यह नहीं

तत्त्व-दर्शी ज्ञानी हैं, कुछ कर्म-कांडी नहीं। सीधी बात तो यह है कि सभी वक्ताओं ने एक स्वर से अपने अपने ढंग पर और अपने अपने अधिकारी के अनुरूप अपने प्रिय प्रतिपाद्य विषय, अर्थात् राम-भक्ति का ही प्रतिपादन किया है और तुलसीदास ने भक्ति ही को इष्ट भी ठहराया है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि पार्वती का प्रसंग गरुड़ के यहाँ नहीं चला है और न अपने यहाँ ही उठा है। अर्थात् कागभुसुण्डि और शिव की कथा से याज्ञवल्क्य और तुलसी की कथा इस अंश में भिन्न है। याज्ञवल्क्य ने ही सती-मोह और पार्वती-विवाह का वर्णन किया है, इसमें सन्देह नहीं। स्वयं तुलसीदास का कहना है—

सभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयन नीर रोमावलि ठाढी॥
प्रेम बिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरखे मुनि ज्ञानी॥
—बाल, १०९।

ऐसी स्थिति में 'रामचरितमानस' के मर्म तक न पहुँचना और जहाँ तहाँ के कुछ अंशों को उठा-उठाकर मनमाना भवन खड़ा करना मीमांसा नहीं, शोध की आतुरता भले ही हो। 'रामचरितमानस' की रचना एक निश्चित और ठोस पद्धति पर हुई है। उसको खंड-खंड करके समय समय पर देखना साधु नहीं। उसके अधिकारी की चर्चा भी इसी से बार बार हुई है।

इस अधिकारी की मीमांसा में उतरने के पहले रामचरित-मानस के सम्प्रदाय को समझ लेना समीचीन होगा। तुलसीदास ने इसमें जो विचित्र लीला की है उसको अभी गुप्त ही रहने दीजिये और देखिये यह कि—

कहा है कि अब हमारा मोह दूर हो गया और हम में कोई भ्रम नहीं रहा। कदाचित् इसकी आवश्यकता भी न थी। याज्ञवल्क्य ने उनके सम्बन्ध में आरम्भ में जो कुछ ताड़कर कहा था वह सर्वथा सत्य था। अब रही तुलसी के सम्वाद की बात। सो उसके विषय में यही कहना है कि तुलसी चाहते हैं कि आप भी इस कथा को सुनें। तुलसीदास की बात इस कथा से बन गई तो आपकी भी इससे अवश्य बन जायगी।

जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

अन्त में तुलसीदास की कामना यही रह जाती है कि राम में सबकी सहज रति उन्हीं की भाँति हो। ऐसी सहज रति हो जैसी कामिनी में कामी की होती है।

कतिपय मानस-मरालों की धारणा है कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का सम्वाद कर्म-कांड का सम्वाद और मानस में दक्षिण घाट का सम्वाद है तथा शिव-पार्वती का सम्वाद ज्ञान-कांड का सम्वाद और पश्चिम-घाट का सम्वाद है, एवं काग-भुसुण्डि और गरुड़ का सम्वाद भक्ति-कांड और उत्तर-घाट का सम्वाद है। रहा पूर्व-घाट और तुलसी का सम्वाद। सो वह दैन्य कांड अथवा उपासना का सम्वाद है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में कर्म, ज्ञान, भक्ति और उपासना के घाट मानस में बने हैं और यहाँ कथा भी उनके अनुसार ही होती है; पर हमारी दृष्टि में यह धारणा ठीक नहीं। 'मानस' में राम की भक्ति जैसी शिव में है वैसी क्या किसी में होगी। भक्ति के प्रतीक शिव हैं अतः 'रामचरितमानस' में ज्ञान, कर्म और उपासना आदि के कांड देखना ठीक नहीं। याज्ञवल्क्य भी

तत्त्व-दर्शी ज्ञानी हैं, कुछ कर्म-कांडी नहीं। सीधी बात तो यह है कि सभी वक्ताओं ने एक स्वर से अपने अपने ढंग पर और अपने अपने अधिकारी के अनुरूप अपने प्रिय प्रतिपाद्य विषय अर्थात् राम-भक्ति का ही प्रतिपादन किया है और तुलसीदास ने भक्ति ही को इष्ट भी ठहराया है। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि पार्वती का प्रसंग गरुड़ के यहाँ नहीं चला है और न अपने यहाँ ही उठा है। अर्थात् कागभुसुण्डि और शिव की कथा से याज्ञवल्क्य और तुलसी की कथा इस अंश में भिन्न है। याज्ञवल्क्य ने ही सती-मोह और पार्वती-विवाह का वर्णन किया है, इसमें सन्देह नहीं। स्वयं तुलसीदास का कहना है—

सभु चरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।
बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयन नीर रोमावलि ठाढ़ी॥
प्रेम बिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरसे मुनि ज्ञानी॥

—बाल, १०९।

ऐसी स्थिति में 'रामचरितमानस' के मर्म तक न पहुँचना और जहाँ तहाँ के कुछ अंशों को उठा-उठाकर मनमाना भवन खड़ा करना मीमांसा नहीं, शोध की आतुरता भले ही हो। 'रामचरितमानस' की रचना एक निश्चित और ठोस पद्धति पर हुई है। उसको खंड-खंड करके समय समय पर देखना साधु नहीं। उसके अधिकारी की चर्चा भी इसी से बार बार हुई है।

इस अधिकारी की मीमांसा में उतरने के पहले रामचरितमानस के सम्प्रदाय को समझ लेना समीचीन होगा। तुलसीदास ने इसमें जो विचित्र लीला की है उसको अभी गुप्त ही रहने दीजिये और देखिये यह कि—

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा । बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा ॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा । राम-भगति अधिकारी चीन्हा ॥
तेहि सन जागवलिक पुनि पावा । तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥

इसके आगे इसकी परम्परा कैसे तुलसीदास के गुरु तक पहुँची इसकी जानकारी हमें नहीं हो सकती। तुलसीदास इसको बताना नहीं चाहते। आगे चलकर शिव को कागभुसुंडि के आश्रम में मराल के वेप में कथा सुनते दिखाते हैं और कागभुसुंडि के द्वारा यह प्रगट कराते हैं कि उनको 'रामचरित-मानस' की कथा लोमश ऋषि से मिली।

मम परितोप बिबिध बिधि कीन्हा । हरषित राम मंत्र तब दीन्हा ॥
बालक रूप राम कर ध्याना । कहेहु मोहि मुनि कृपा निधाना ॥
सुन्दर सुखद मोहि अति भावा । सो प्रथमहि मैं तुम्हहि सुनावा ॥
मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा । रामचरितमानस तब भाखा ॥
सादर मोहिं यह कथा सुनाई । पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई ॥
राम-चरित-सर गुप्त सुहावा । संभु प्रसाद तात मैं पावा ॥
तोहि निज भगत राम कर जानी । तातें मै सब कहेउँ बखानी ॥
राम भगति जिन्ह के उर नाहीं । कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं ॥

——उत्तर, ११३ ।

यहाँ ध्यान देने की बात है राम-मंत्र और बालक रूप राम के ध्यान के कुछ काल उपरान्त काग को रामचरितमानस का प्रसाद मिलना। रामचरितमानस गुप्त है, गुह्य है। उसकी प्राप्ति अधिकारी को ही होती है। रामचरितमानस के ध्येय बालक राम हैं अथवा धनुप-बाणधारी पथिक राम, इसका निर्णय भी हो जाना चाहिये। सो इतना तो निर्विवाद है कि रामचरितमानस के श्रोताओं में जो भ्रम उठा है वह बालक

राम के प्रति नहीं। नहीं, वह तो धनुष-बाण-धारी वनवासी राम की प्राकृत लीला के कारण उत्पन्न हुआ है। निदान मानना ही होगा कि रामचरितमानस के प्रभु धनुष-बाण-धारी वनवासी राम ही हैं।

'रामचरितमानस' की गुह्यता पर सब से अधिक ध्यान है स्वयं इसके रचयिता महेश का—

मति अनुरूप कथा मैं भाखी। यद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तौ मैं रघुपति कथा सुनाई॥
यह न कहिय सठहीं हठसीलहिं। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहिं॥
कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजै सचराचर स्वामिहि॥
द्विज-द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहूँ॥
राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सत संगति अति प्यारी॥
गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई॥
ता कहुँ यह विशेषि सुखदाई। जाहि प्रान प्रिय श्री रघुराई॥

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्वान।
भाव सहित सो येहि कथा करौ श्रवन पुट पान॥

—उत्तर, १२८।

यह कसौटी लोमस ऋषि के यहाँ कितनी सरल हो गई थी, इसको हमने पहले ही देख लिया है। राम-भक्ति जिनके हृदय में नहीं है उनसे यह कथा कभी नहीं कहनी चाहिये। याज्ञवल्क्य के यहाँ यह निषेध भी नहीं रहा। उनकी दृष्टि में—

राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं।

और तुलसीदास के यहाँ तो इतनी सुलभ हो गई कि 'राम भजे गति केहि नहिं पाई' का उद्घोष हो गया और—

चरितमानस की रचना करते हैं वह वस्तुतः लोक-हित की भावना है। यह लोक-हित भक्ति के क्षेत्र में भी आदि से अन्त तक दौड़ता है और काव्य के क्षेत्र में भी। तुलसीदास कहते हैं—

निज सन्देह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव-सरिता-तरनी ॥
बुध विश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-विभंजनि ॥

'सकल-जन-रंजनि' की यह भावना तुलसीदास में इतनी प्रगाढ़ और बद्धमूल है कि पार्वती के प्रसंग में भी तुलसी यही कहते हैं—

कथा जो सकल लोक-हितकारी। सोइ पूछन चह सैल-कुमारी ॥

तथा—

तदपि असका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई ॥

शिव ने तो पार्वती से स्पष्ट कह दिया था कि राम में तुम्हारी प्रीति है। तुम तो संसार के कल्याण के लिये ही ऐसा प्रश्न करती हो—

तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी।

कथा की स्थिति यह है तो काव्य की भी यह—

कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

हाँ, तो गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस में भक्ति को लेकर उतरे हैं और निकले हैं उसमें से लेकर वह अनूठा काव्यरत्न जिसकी टक्कर का दूसरा काव्य विश्व में नहीं है। यदि काव्य को शास्त्र और शास्त्र को काव्य के रूप में देखने की लालसा हो तो रामचरितमानस का अवगाहन करें। तुलसी ने सच कहा है—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं ॥

परन्तु यह तो हुई आदर की वात। अव वखान की भी कसौटी सुन लीजिये—

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥

और यह कितना सच है भी कि आज तुलसीदास के रिपु भी अपने सहज वैर को भूलकर उनकी कविता का वखान करते हैं। जो लोग तुलसी की भक्ति को घातक समझते हैं उनको भी तुलसी की कविता है और उसके रस से किसी प्रकार वंचित भी नहीं रह पाते। रामचरितमानस का रसायन ही कुछ ऐसा है कि उससे सुवर्ण ही निकलता है। उसका रामरस ही कुछ ऐसा है कि उसमें पड़कर कुछ फीका नहीं रह जाता।

रामचरितमानस की जो समीक्षा अव तक हुई है उससे इतना तो अवगत हो गया होगा कि राम-चरित-मानस के काव्य के अध्ययन में किन वातों पर विशेप ध्यान रखना चाहिये। रामचरितमानस के सम्वाद ही सर्वस्व हैं तो इन सम्वादों को सुभीते के लिये हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। एक देव-वर्ग और दूसरा नर-वर्ग। शिव और पार्वती, कागभुसुंडि और गरुड़ देव-वर्ग के जीव हैं तो याज्ञवल्क्य और भरद्वाज तथा तुलसीदास और जन-समाज नर वर्ग के प्राणी। दोनों की यह भिन्नता मानस में सर्वत्र गोचर होती है। शिव और काग वालक राम के प्रेमी हैं। यहाँ तक कि दोनों मनुज-रूप धारण कर वालक राम के पीछे पीछे—

परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।

बाल, २०१।

में ही निमग्न रहते हैं परन्तु तुलसी के राम बालक राम नहीं, धनुर्धर राम हैं। तुलसी के ही नहीं, याज्ञवल्क्य के भी इष्ट ये ही और हैं। याज्ञवल्क्य का कहना है—

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा॥
तदपि जथाश्रुत कहउँ बखाना। सुमिरि गिरापति प्रभु धनु-पानी॥

—बाल, ११०।

यही 'धनुपानी' प्रभु याज्ञवल्क्य तथा तुलसी के इष्टदेव हैं और हैं लोकमंगल के प्रतीक राम भी। यहाँ इतना और भी समझ लेना चाहिये कि शिव की कथा कैलास में होती है तो कागभुसुंडि की सुमेरु-गिरि पर। अर्थात् दोनों का इस जन-लोक से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं, परन्तु याज्ञवल्क्य की कथा इसी लोक में तीर्थराज प्रयाग में होती है, और होती है तुलसीदास की भी यही यथातथ कथा सत्य भी। आशा है इन भेदों पर दृष्टि रखते हुए मानस के अध्ययन से तुलसीदास का अभिमत प्रकट हो जायगा। और लोग उनके काव्य तथा उनकी भक्ति को भली भाँति हृदयंगम कर सकेंगे। विदित होता है कि तुलसीदास ने काव्य के निदर्शन के निमित्त तो राम के चरित के उस अंश को चुना है जिससे किसी को व्यामोह नहीं होता और भक्ति के निरूपण के लिये उस अंश को लिया है जिससे सब को व्यामोह होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रथम रूप में तुलसी की भक्ति नहीं। नहीं, उसमें भी तुलसी की भक्ति है और वहाँ भी तुलसी चाहते हैं कि सभी की उसमें भी सहज रति हो। चाहते ही नहीं, सचमुच उसे अभागा भी समझते हैं जिसकी रति इस शील में नहीं होती। राजा जनक जैसा विदेह भी राम को

ते ही जो ब्रह्म सुख को छोड़ कर इनसे लिपट जाता है का रहस्य भी यही है। जनक राम के रूप, शील और बल को गहते हैं और फलतः उनमें अनुरक्त भी हो जाते हैं। इसी को र्गीय आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने राम के शील, शक्ति और ौन्दर्य का फल कहा है और इसकी विवेचना भी भर-पूर की है।

तुलसीदास की रचनाओं को लेकर जो इतना विवाद उठा है उसका उठना स्वाभाविक भी है। तुलसी का परितः परिशीलन इसके बिना हो भी नहीं सकता। तुलसीदास की कोई भी रचना मनमानी नहीं हुई है और न हुई है किसी मन्दिर में बैठ कर केवल कीर्तन करने के लिये ही। उनकी सभी रचनाओं का कोई न कोई उद्देश्य है और किसी न किसी लक्ष्य को भेदने के निमित्त ही उनकी लेखनी उठी तथा वाणी फूटी है। तुलसी ने प्रबन्ध, अबन्ध और स्फुट रूप में बहुत कुछ लिखा है। उनकी प्रबन्ध-पटुता का कहना ही क्या ? अबन्ध-रचना भी उनकी अच्छी हुई है और स्फुट रचना तो जब तब किसी प्रेरणा से किसी प्रसंग पर निकल पड़ी है, जिससे तुलसी की स्थिति स्पष्ट होती है और उनके हृदय के बहुत से छिपे भाव प्रकट हो जाते हैं। खेद है कि तुलसीदास के ग्रन्थों का सम्पादन और संकलन ऐसी दृष्टि से नहीं हुआ है, जिसके कारण उनके अध्ययन में बड़ी बाधा उपस्थित होती है और उनका स्वरूप भी बहुत कुछ धुँधला रह जाता है। तुलसी के प्रबन्ध-काव्यों के विषय में कुछ कहना नहीं है। प्रबन्ध का नाम अति प्रचलित हो गया है और लोग उसका संकेत भी कुछ न कुछ ठीक ही समझते हैं, परन्तु अबन्ध का नाम नया-सा है, अतः उसके सम्बन्ध में ही थोड़ा निवेदन कर दिया जाता है। अबन्ध से हमारा तात्पर्य है उस रचना से

जिसमें कथा के प्रसंग सामने होते हैं और उन्हीं को लेकर रचना खड़ी भी होती है, पर उसमें उन प्रसंगों के जोड़ने का कोई उद्योग नहीं होता। हमारी समझ में तुलसीदास की 'गीतावली' ऐसी ही रचना है। तुलसीदास की दृष्टि में 'रामचरति' इसमें भी था, किन्तु था मुख्य-मुख्य घटनाओं वा वृत्तों के रूप में ही। तुलसीदास ने उन्हीं घटनाओं को लिपिबद्ध किया और उसी क्रम से पदों का निर्माण किया। हम इसे अनुबन्ध भी नहीं कहते। कारण कि हम जानते हैं कि अनुबन्ध में भी बन्धन का प्रयत्न तो होता ही है—पहले न सही, बाद में सही, होता तो अवश्य है। रही स्फुट रचना, सो उसके बारे में कोई विवाद नहीं। आप उसको मुक्तक के परम्परागत नाम से पहिचान सकते हैं और उसको संग्रह के रूप में 'दोहावली' तथा 'कविता-वली' में देख भी सकते हैं।

तुलसीदास की प्रबन्ध-रचनाओं में तीन मुख्य हैं—

(१) रामचरितमानस।

(२) पार्वती मंगल।

(२) जानकी मंगल।

इनमें प्रबन्ध अथवा वस्तु-विन्यास की दृष्टि से 'पार्वती-मंगल' प्रधान है। 'जानकीमंगल' उसकी पूर्ति के लिये रचा गया है, इसको हम पहले ही बता चुके हैं। उसमें कवि-कर्म दिखाने की कोई चेष्टा नहीं। उसे सर्व सुबोध बनाने की भावना अवश्य है। किन्तु 'पार्वतीमंगल' में यह बात नहीं है। उसमें कवि-कर्म दिखाया गया है। आरम्भ में 'कवि न कहावौं' की वैसी ही दीनता दिखाई गई है जैसी रामचरितमानस में, और अन्त में 'मंगल हार रच्यौ कवि मति मृगलोचनि' के द्वारा इस रचना

का महत्त्व भी दरसाया गया है। विषय की दृष्टि से 'पार्वती-मंगल' में 'रामचरितमानस' से कुछ भिन्नता अवश्य है, पर यह भिन्नता ऐसी नहीं है कि इसके कारण ही 'पार्वतीमंगल' की नवीन सृष्टि हुई हो। रामचरितमानस में भी 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' हैं ही, फिर तुलसीदास ने उन पर अलग रचना क्यों की ? उत्तर बहुत ही सरल और सुबोध है। तुलसीदास ने इन प्रबन्धों की रचना मंगल छन्द में स्त्रियों में प्रचार पाने के हेतु की। इनमें भी 'पार्वतीमंगल' में उनकी काव्य-दृष्टि बनी रही। उनका ध्यान वस्तु पर बराबर बना रहा। अतएव वस्तु-विन्यास इसका जैसा बन पाया है वैसा किसी दूसरे ग्रन्थ का नहीं। 'रामचरितमानस' तुलसी का सर्व-प्रधान काव्य है। इस काव्य की सफलता भी निराली है, किन्तु वस्तु की दृष्टि से इसमें यह बात दिखाई देती है कि तुलसी का ध्यान वस्तु पर उतना नहीं रहा है जितना कि नेता तथा रस पर। उन्होंने स्वतः इसको स्पष्ट कर दिया है कि रामचरित का वर्णन 'व्यास समास स्वमति अनुरूपा' हुआ है। इसमें 'व्यास' भी है और 'समास' भी। समास तो वहाँ है जहाँ कोई भी मर्म की बात नहीं, हृदय का उल्लास नहीं, केवल घटना-चक्र का क्रम है। व्यास वहाँ है जहाँ मर्म है, हृदय है, रस है। स्वमति का विधान वस्तु में भी हुआ है और नेता में भी। नेता की दृष्टि से—

जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥

—उत्तर, ६१

का विधान तो है ही, वस्तु में भी—

जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करै सुनि सोई॥

—बाल, ३८

में कथा की विचित्रता की भी बात ठिकाने से समझा दी गई है। 'रामचरितमानस' में तुलसी ने प्रचलित रामचरित में भी कुछ हेरफेर कर उसे अधिक मार्मिक और हृदय-ग्राही बना दिया है। यही कारण है कि उसके सभी वक्ता 'यथाश्रुत' के साथ ही साथ 'यथामति' की भी दुहाई देते हैं और सभी 'स्वमति' का नाम भी लेते रहते हैं। तुलसीदास 'मोरे मन प्रबोध जिमि होई' को लक्ष्य करके ही रामचरितमानस की रचना में मग्न हुए थे। उन्होंने उसको अपने अनुकूल ढालकर उसकी जो श्रीवृद्धि की उसको सभी लोग जानते, पहिचानते और मानते भी हैं। यह सच है कि ऐसी प्रेरणा तुलसीदास को अनेक संस्कृत काव्यों से मिली है, किन्तु तुलसीदास ने जिस रूप में उनके भावों को अपनाया है वह सर्वथा उनका अपना है। उस पर उनकी अपनी निजी छाप है। तुलसीदास ने लिया बहुत कुछ है, पर उसको समेटकर ऐसा रूप दे दिया है जो उन्हीं का होकर रह गया है। अपनी भक्ति जगाने की जितनी चिन्ता रामचरितमानस में रही है उतनी किसी अन्य काव्य में नहीं। और रामचरितमानस में तुलसी की दृष्टि रही सदा है राम, भगवान और उनकी भक्ति पर, जिससे 'मानस' की कथा-वस्तु सहायक के रूप में सामने आती है। वह साधन के रूप में ली गई है और इसी से तुलसी की दृष्टि उस पर नहीं रही है, और रही है सदा उसके नायक तथा पात्रों पर। जहाँ कहीं कथा में कुछ परिवर्तन भी हुआ है वह कथा की दृष्टि से नहीं, नेता और रस की दृष्टि से ही। निदान, उसकी वस्तु का वैसा विभाजन नहीं हुआ है जैसा कि महाकाव्यों में सर्गपद्धति पर होता है। उसमें उसी प्रकार के सात कांड रखे गये हैं जिस प्रकार के अन्य रामायणों में मिलते हैं। हाँ, विशेषता इतनी

अवश्य की गई है कि उन कांडों को सोपान बना दिया गया है, जो रामचरितमानस में प्रविष्ट होने एवं उसमें निमग्न होने के मार्ग हैं। इन सोपानों में किसी प्रकार की समता नहीं है। कोई बहुत बड़ा है, तो कोई बहुत छोटा। तृतीय सोपान अथवा अरण्यकांड कितना छोटा और द्वितीय सोपान अथवा अयोध्या-कांड कितना बड़ा है, इसे कोई भी देख सकता है। सप्तम सोपान अथवा उत्तरकांड में रामचरित अथवा वस्तु तो नाममात्र को ही है। जो कुछ उसमें है वह राम-भक्ति ही है। वस्तु का विलास सबसे अधिक द्वितीय सोपान में ही है। इसके उपरान्त तो वस्तु को चलता किया गया है। उसके विषय में भरद्वाज की वाणी में सहज ही कहा जा सकता है—

नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भयेउ रोष रन रावन मारा॥

बस, इसी में राम के भगवान रूप को दिखाने की भरपूर चेष्टा हुई है और इसी में भक्ति का प्रतिपादन भी खूब गहरा हुआ है। इसकी दृष्टि से इसमें सर्व सुलभ रस नहीं, इसमें तो 'रस विशेष' ही है, जो अपने सच्चे रूप में किसी रामभक्त को ही प्राप्त होता है।

तुलसीदास को सच्ची सफलता मिली है मर्म को पहिचानने और उसको मर्म तक पहुँचाने में। तुलसीदास करुण रस के कवि हैं। हृदय की वेदना को पहिचानते और उसे हृदय में जमा भी देते हैं। उनकी वाणी सत्य है, किन्तु है कितनी मर्म-भरी और संवेदनशील—

तुलसी-भनित सबरी-प्रनति रघुबर-प्रकृति करुनामई।
गावत सुनत समुझत भगति हिय होय प्रभु-पद नित नई।

—गीतावली, अरण्य, १७

तुलसीदास ने इस 'करुनामई' से जो काम लिया है वह देखते ही बनता है। तुलसीदास भक्ति को लेकर उठे हैं, चले हैं और बसे हैं प्रेम को लेकर ही, किन्तु सच्ची भक्ति और सच्ची रति होती वहीं है जहाँ करुणा का सच्चा प्रसार और वेदना का सहज उल्लास होता है। कौन नहीं जानता कि राम-चरितमानस का मर्म-स्थल है राम-वनवास ही और तुलसी का कवि-हृदय फूट निकला है कैकेयी के वरदान और राम के वियोग में ही? अयोध्या की उस समय जो स्थिति हुई, उसके कण-कण से जो रस-धारा फूट निकली वही समस्त सृष्टि में समा गई और पशु-पक्षी भी उसी से मर्माहत हो गये, लता और वेलियाँ भी उसी की लपट में झुलस उठीं। उसकी उष्णता ही कुछ ऐसी है।

चरित-चित्रण

रामचरितमानस का द्वितीय सोपान ही चरित की कसौटी है। इसमें तुलसीदास खूब जमे हैं और यदि काव्य की दृष्टि से कहीं उखड़े भी हैं तो वहीं, जहाँ राम के ब्रह्म रूप की चिन्ता में पड़ गये हैं अन्यथा कहीं भी किसी प्रकार की कोई त्रुटि यहाँ नहीं दिखाई देती। 'मानस' के प्रमुख पात्र यहाँ प्रस्तुत होते हैं और जिस रूप में हमारे हृदय में अपना घर बनाते हैं वह रूप अनुदिन निखरता ही जाता है और नित्य निर्मल,

विशद तथा स्वच्छ होता जाता है। केवल मन्थरा ही ऐसी घातिनी मिलती है जो फिर कभी निखर कर हमारे सामने नहीं आती। कैकेयी का निखार भी आगे चलकर हो जाता है और और उसकी ग्लानि में उसके सारे कल्मष धुल जाते हैं, पर मन्थरा मन्थरा ही रह जाती है—अथवा 'मानस' में कहीं की भी नहीं रह जाती। उसको शत्रुघ्न ने जो सीख दी वही उसकी सच्ची गति भी है। प्रतिनायक के पक्ष में यही गति सूपनखा की होती है। सूपनखा और मन्थरा को कवि ने भुला दिया, पर इस ढंग से, ऐसा रूप देकर, ऐसे अवसर पर भुलाया कि आज तक कोई उन्हें भूल न सका। अरे मन्थरा! अरे सूपनखा! की ध्वनि आज भी समाज में कानों में पड़ती ही रहती है और उनसे बचने तथा सतर्क रहने की चेतावनी मिलती रहती है।

प्रतिनायक की सूचना पाठक को पहले ही मिल चुकी है। रावण के पूर्व-जन्म का वृत्तान्त भी उसको मिल चुका है। वह उसके पाप-कर्म से भी परिचित हो चुका है। हाँ, प्रासंगिक कथा के पात्र किष्किन्धा में मिलते हैं और यहीं से उस संग्राम का सूत्रपात होता है जिसको 'भयउ रोष रन रावन मारा' के रूप में अंकित किया गया है। तुलसीदास के पात्र वृत्तियों के प्रतीक होकर उठे हैं, इसको मानने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। तुलसीदास ने विनयपत्रिका में इसको खोलने की कृपा की भी है। देखिये —

देहि अवलंब कर कमल कमलारमन, दमन दुख समन संताप भारी।
अग्यान-राकेस-ग्रसन बिधुंतुद, गर्ब-काम-करि-मत्त-हरि दूषनारी॥
बपुष ब्रह्मांड, सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग, रचित-मन-दनुज-मय-रूपधारी।

विविध कोसौप अति रुचिर मंदिर-निकर, सत्व गुन प्रमुख त्रैकटककारी ।
कुनप-अभिमान सागर भयंकर घोर-विपुल अवगाह दुस्तर अपारम् ।
नक्र रागादि-संकुल, मनोरथ सकल संग-संकल्प बीची विकारम् ।
मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहँकार, पाकरिजित् काम विस्रामहारी ।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध-पापिष्ट विबुधांतकारी ।
द्वेष-दुर्मुख, दंभ-खर, अकंपन-कपट, दर्प मनुजाद-मद-सूलपानी ।
अमित बल परम दुर्जय निसाचर-निकर सहित षड्वर्ग गो-यातुधानी ।
जीव भवदंघ्रि-सेवक-विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता ।
नियम यम सकल-सुरलोक-लोकेस लंकेस बस नाथ, अत्यंत भीता ।
ज्ञान अवधेस, गृह-गेहिनी भक्ति सुभ, तत्र अवतार भूभार हर्ता ।
भक्त संकष्ट अवलोकि पितु वाक्य-कृत गमन किय गहन बैदेहि-भर्त्ता ।
कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल, ज्ञान-सुग्रीव-कृत जलधि सेतू ।
प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय विषय-बन-भवनमिव धूमकेतू ।
दुष्ट दनुजेस निर्बंसकृत दास हित विश्व दुख हरन बोधैकरासी ।
अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी-हृदय-कमल बासी ॥५८

तुलसीदास ने जो कुछ कहा है उसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि मलिक मुहम्मद जायसी की भाँति उन्होंने भी राम-चरित को उपमित कथा के रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। तुलसी की दृष्टि में 'रामचरितमानस' के पात्र सचमुच पात्र हैं, जो किसी न किसी वृत्ति को लेकर बढ़े हैं, पर प्रधानता उसमें उस वृत्ति की नहीं प्रत्युत उसी पात्र की है। अर्थात् हम उसको नट के रूप में नहीं प्रत्युत व्यक्ति के रूप में ही पाते हैं। भाव यह कि उसकी सत्ता में तुलसी को सन्देह नहीं। हो भी कैसे ? उनके ब्रह्म राम भी तो वस्तुतः नर राम ही हैं और इसी के प्रतिपादन में तो सारे रामचरितमानस की अवतारणा भी हुई है। कहने का आशय यह कि तुलसीदास की दृष्टि प्रत्येक पात्र पर किसी

विशेष वृत्ति को लेकर ही रही है और उसमें उसी वृत्ति का विकास दिखाने की चेष्टा भी पूरी की गई है। तुलसीदास के पात्रों ने रामचरितमानस में जो कार्य किया है उसका विश्लेषण भली भाँति अभी तक नहीं किया गया। रामचरितमानस में केवल राम का ही चरित नहीं है, अन्यों का भी पूरा चरित है। वास्तव में रामचरितमानस चरित-काव्य है, और है सभी का लक्ष्य राममय हो जाना। यहाँ तक कि इसका प्रतिनायक रावण भी यही चाहता है और वैर-भाव से ही उक्त गति को प्राप्त भी हो जाता है; यहाँ तक कि तुलसीदास ने जहाँ राक्षसों का वर्णन किया है वहाँ उनको इतना और भी स्पष्ट करना पड़ा है कि—

एहि लागि तुलसीदास इनकी कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहिं सही॥

—सुन्दर, ३

और उनके सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट लिख भी दिया है—

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी॥
उमा राम मृदु चित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥

—लंका, ४९

तुलसीदास ने रामचरितमानस में व्यष्टि के चरित को लिया और समष्टि के चरित को भी। व्यष्टि को व्यक्ति के रूप में लिया है और समष्टि को जाति के रूप में। उन्होंने कपि और भालू को राम का सहायक बनाया है। संग्राम-भूमि में दोनों का अलग-अलग ढंग देखना हो तो उनका यह रंग

देखें और देखें उनके भिड़ने की भिन्न-भिन्न प्रणाली तथा शत्रु के प्रति अलग-अलग प्रतिक्रिया भी। 'भालू' को न भूलें। वह 'बन्दर' के बराबर नहीं, पर है बड़े महत्त्व का। देखिये रणभूमि में हो क्या रहा है। यही न —

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना॥
हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत राम चरित रन रंगा॥
सुभट समर रस दुहुँ दिसि माते। कपि जयसील राम बल ताते॥
एक एक सन भिरहिं पचारहिं। एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं॥
मारहिं काटहिं धरनि पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥
उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥
निसिचर भट महि गाड़हिं भालू। ऊपर ढारि देहिं बहु बालू॥
बीर बलीमुख जुद्ध बिरुद्धे। देखिअत बिपुल काल जनु क्रुद्धे॥
क्रुद्धे कृतांत समान कपि तनु स्रवत सोनित राजहीं।
मरदहिं निसाचर कटकु भट बलवंत घन जिमि गाजहीं॥
मारहिं चपेटन्हि डाटि दातन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।
चिक्करहिं मर्कट भालु छल बल करहिं जेहि खल छीजहीं॥
धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
प्रहलादपति जनु बिबिध तनु धरि समर अंगन खेलहीं॥
धरु मारु काटु पछारु घोर गिरा गगन महि भरि रही।
जय राम जो तृन तें कुलिस कर कुलिस तें तृन कर सही॥

—लंका, १८

स्मरण रहे, कपि दो प्रकार के शब्द करते हैं—एक प्रसन्नता में और दूसरा क्रोध में। दोनों को एकत्र देखना हो तो उनकी कुंभकरन से भिड़न्त देखिये—

एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना॥

लिए उठाइ बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिं ता ऊपर॥

—लंका, ६५

कपि के बारे में प्रसिद्ध है कि रात्रि में उन्हें सूझता नहीं है। यही कारण है कि प्रदोष के आते ही बन्दर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और फिर भालुओं को ही अपना बल दिखाना रह जाता है। देखिये—

हनुमदादि मुरुछित करि बंदर। पाइ प्रदोष हरष दसकंधर॥
मुरुछित देखि सकल कपि बीरा। जामवंत धाएउ रनधीरा॥
संग भालु भूधर तरु धारी। मारन लगे पचारि पचारी॥
भएउ क्रुद्ध रावन बलवाना। गहि पद महि पटकै भट नाना॥
देखि भालुपति निज दल घाता। कोपि माँझ उर मारेसि लाता॥
उर लात घात प्रचंड लागत बिकल रथ तें महि परा।
गहे भालु बीसहु कर मनहुँ कमलन्ह बसे निसि मधुकरा॥
मुरुछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहि गयो।
निसि जानि स्यन्दन घालि तेहि तब सूत जतन करत भयो॥

—लंका, ६८

वन्दरों के उपद्रव को भी तुलसीदास ने बड़े ठिकाने से लिया है। एक तो वन्दर की जाति और दूसरे वन गई उनकी सेना। फिर तो कहना ही क्या? जहाँ कहीं पहुँचे उपद्रव आरम्भ कर दिया। सूत्रपात तो—

तब मधुबन भीतर सब आये। अंगद सम्मत मधु फल खाये॥
रखवारे जब बरजइ लागे। मुष्टि प्रहार हनत सब भागे।

—सुन्दर, २८

में हो गया था और लंका में पहुँचे तो—

खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं। लंका सन्मुख सिखर चलावहिं॥

जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं॥
दसनन्हि काटि नासिका काना। कहि प्रभु सुजसु देहिं तब जाना॥

—लंका, ९

इन बन्दरों के समूह में से दो को अलग कर देखिये तो उनका उत्पात और भी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है—

जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध द्वौ बन्दर। राम प्रताप सुमिरि उर अन्तर॥
रावन भवन चढ़े द्वौ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥
कलस सहित गहि भवनु ढहावा। देखि निसाचरपति भय पावा॥
नारि बृन्द कर पीटहिं छाती। अब दुइ कपि आये उतपाती॥
कपि लीला करि तिन्हहिं डरावहिं। रामचन्द्र कर सुजस सुनावहिं॥
पुनि कर गहि कंचन के खंभा। कहेन्हि करिअ उतपात अरंभा॥
गर्जि परे रिपु कटक मँझारी। लागे मर्दै भुज बल भारी॥
काहुहि लात चपेटन्हि केहू। भजहु न रामहिं सो फल लेहू॥

एक एक सों मर्दहिं, तोरि चलावत मुंड।
रावन आगे परहिं ते, जनु फूटहिं दधि कुंड॥

—लंका, ४४

अंगद और हनुमान का स्वभाव भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। दोनों के जो संवाद रावण के साथ हुए हैं उनमें उनके स्वभाव अलग-अलग आप ही व्यक्त हो जाते हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी प्रकार सुग्रीव का स्वरूप भी सर्वथा अलग है और अलग है इन सबसे नल और नील का स्वभाव भी। भालुओं में केवल जामवंत का नाम आता है, किन्तु इस ढंग से आता है कि यदि जामवंत न

होते तो क्या होता यह नहीं कहा जा सकता। कारण, समय की सूझ और महावीर की कुंजी इन्हीं में है। रामचरितमानस में जरठ जटायु ने जो कुछ किया वह तो सर्व-विदित है, किन्तु जरठ जामवंत की करनी कुछ ओझल सी रह गई है। जामवंत के प्रोत्साहन से हनुमान लंका पर कूद पड़े इतना तो सभी लोग जानते हैं, परन्तु रण-भूमि में इस बूढ़े मंत्री ने जो करतब दिखाया वह कुछ और ही है। मेघनाद और रावण के अभिमान को चूर करने वाला यही जामवंत है। मेघनाद ने बड़े अभिमान से कहा था—

> बूढ़ जानि सठ छाड़े तोहि। लागेसि अधम प्रचारे मोही॥

परन्तु परिणाम क्या हुआ? यही न कि उसी के त्रिशूल से उलटे उसी को घायल कर दिया और चट भूमि पर पछाड़ कर उसको नीचा दिखा दिया। देखिये, कैसी मुठभेड़ है—

> अस कहि तरल त्रिसूल चलावा। जामवंत कर गहि सोइ धावा॥
> मारेहि मेघनाद के छाती। परा भूमि घुर्मित सुरघाती॥
> पुनि रिसान गहि चरन फिरायो। महि पछारि निज बलु देखरायो॥
> बर प्रसाद सो मरइ न मारा। तब गहि पद लंका पर डारा॥
>
> —लंका, ७१

अतएव हम देखते हैं कि जामवंत ने अपने विषय में जो कुछ कपियों से समुद्र-तट पर कहा था, उसको इस बुढ़ापे में भी सिद्ध कर दिखाया और किसी अवसर पर कभी भी इस बूढ़े से कोई चूक नहीं हुई। सच तो यह है कि जैसे भरत के चरित में कहीं कल्मष नहीं दिखाई देता वैसे ही जामवंत के चरित में भी। अवसर की सूझ और उसके अनुकूल आचरण दोनों में ही जामवंत निराले हैं।

रामचरितमानस में 'राम-सखा' की स्थिति कुछ और भी निराली है। 'राम-सखा' ही तुलसीदास की अनुपम देन है। निषाद को तुलसीदास ने जिस रूप में लिया और जिस दृष्टि से देखा है वह आज की हरजनी दृष्टि से कहीं अधिक भव्य, रम्य और कल्याण-प्रद है। तुलसी ने निषाद को 'जन' नहीं 'सखा' के रूप में देखा और कहा भी बराबर उसको राम-सखा ही है। इस राम-सखा का स्वभाव कैसा दृढ और सजीव है। बुद्धि और विवेक भी इसमें इतना है कि यह सभी कार्य को ठीक समय पर, ठीक ढंग से सम्पन्न कर देता है और विनोद भी इतना है कि समय पर चूकता ही नहीं, सभी से अपनी सी कराकर ही छोड़ता है। भक्ति और साहस का कहना ही क्या ! भगवान का कृपा-पात्र ऐसा बनता है कि उन्हें अन्त में कहना ही पड़ता है—

> जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धरम अनुसरेहू॥
> तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

—उत्तर, २०

और साहस तो यहाँ तक है कि—

> अस बिचारि गुह ग्याति सन, कहेउ सजग सब होहु।
> हथवाँसहु बोरहु, तरनि कीजिए घाटारोहु॥
> होहु संजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
> सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
> समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
> भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइअ मीचू॥
> स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
> तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे॥

साधु समाज न जाकर लेखा । राम भगत महुँ जासु न रेखा ॥
जाय जियत जग सो महि भारू । जननी जोबन बिटप कुठारू ॥

बिगत बिषाद निषादपति, सबहि बढ़ाइ उछाहु ।
सुमिरि राम माँगेउ तुरत, तरकस धनुष सनाहु ॥

—अयोध्या, १८९-९०

साहसी तो है ऐसा, पर कहीं अति साहसी नहीं। किसी बूढ़े ने पते की बात कही तो मर्म लेने के लिये 'मीन पीन पाठीन पुराने' के साथ भरत के पास पहुँच गया और—

देखि दूरि तें कहि निज नामू । कीन्ह मुनीसहिं दंड प्रनामू ॥
जानि राम प्रिय दीन्हि असीसा । भरतहिं कहेउ बुझाइ मुनीसा ॥
राम-सखा सुनि स्यंदनु त्यागा । चले उतरि उमगत अनुरागा ॥
गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई । कीन्ह जोहारु माथ महि लाई ॥

—अयोध्या, १९३

निषाद ने जो कुछ भरत का सत्कार किया और फिर जिस प्रकार उसकी अगुवाई में भरत चल पड़े उसके कहने की आवश्यकता नहीं। ध्यान देने की बात यह है कि इस निषाद ने कुछ ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि भरत को यमुना पार करने में उतना समय नहीं लगा जितना कि गंगापार करने में लगा था, किन्तु यह सब तो अति सामान्य बातें हैं। इसके शील का अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि इसी निषाद ने फिर उसी मुनिवर को प्रणाम किया तो इस बार इसका प्रभाव कुछ और ही पड़ा। ऋषि से इस बार अलग नहीं रहा गया और हुआ यह कि —

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू ॥
राम-सखा रिषि बरबस भेंटा । जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥

—अयोध्या, २४३

निषाद जाति की एक झलक उस समय मिली थी जब भरत से जूझने की भावना उनके बीच जाग उठी थी। यहाँ कोल-किरातों की भी एक झाँकी ले लेनी चाहिये और देखना चाहिये कि तुलसीदास ने इनकी प्रकृति को कहाँ तक परखा है। कोल-किरातों को पता चल गया है कि राम चित्रकूट में आ बसे हैं। उपहार लेकर प्रभु की सेवा में पहुँचते और कहते हैं —

हम सब धन्य सहित परिवारा । दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा ॥
कीन्ह बास भल ठाउँ बिचारी । इहाँ सकल रितु रहब सुखारी ॥
हम सब भाँति करब सेवकाई । करि केहरि अहि बाघ बराई ॥
बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा । सब हमार प्रभु पग पग जोहा ॥
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब । सर निरझर भल ठाउँ देखाउब ॥
हम सेवक परिवार समेता । नाथ न सकुचब आयसु देता ॥

—अयोध्या, १३६

कोल-किरातों की जो जानकारी तुलसीदास ने दिखाई है वह सर्वथा उपयुक्त है। कोल-किरातों ने राम से जो कुछ कहा था उसको कर दिखाया जब अवध के लोग चित्रकूट में आ बसे थे। देखिये —

कोल-किरात भिल्ल बनबासी । मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी ॥
भरि भरि परन पुटी रुची रूरी । कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥

सबहि देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वादु भेद गुन नामा॥
देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दुहाई देहीं॥

इतना ही नहीं, उनका शिष्टाचार इससे भी कहीं अधिक साधु है। सुनिये न कहते क्या हैं—

तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥
देव काह हम तुम्हहिं गोसाईं। ईंधनु पात किरात मिताईं॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहि न बासन बसन चोराई॥
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहि पेट अघाहीं॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ॥

—अयोध्या, २५१

पुरुष की अपेक्षा स्त्री को जातिगत रूप में तुलसीदास ने अधिक लिया है। तीन अवसर 'रामचरितमानस' में ऐसे आये हैं जहाँ स्त्रियाँ अपने हृदय का पूरा परिचय देती हैं। एक तो जनकपुर में पुष्प-वाटिका अथवा धनुष यज्ञ के अवसर पर, दूसरा कैकयी के हठ करने पर और तीसरा रामचन्द्र की वन-यात्रा में। इसके अतिरिक्त और भी जहाँ तहाँ उनका सामूहिक रूप सामने आता है, परन्तु उनमें वहाँ कोई विशेप विशेपता नहीं होती। इनमें से भी मुख्य रूप से दो ही के चित्रण में तुलसीदास की वृत्ति रमी है। कैकयी के प्रसंग में तो सबको समझाने का काम करना पड़ा है और कुछ को कोसने का भी। परन्तु मिथिला की नारियों और चित्रकूट के मार्ग की ग्राम-वधूटियों को अपने हृदयगत भावों को व्यक्त करने का अच्छा अवसर हाथ लगा है और तुलसीदास ने दोनों को सभी प्रकार से सबके सामने प्रत्यक्ष रख भी दिया है। दोनों की स्थिति में विशेपता यह है कि मिथिला में नागरी नारियों

की चुहुल-पुहुल है और विन्ध्य की नारियों में ग्रामीण सरलता का बोलबाला। दूसरी बात यह है कि मिथिला में शृंगार और संयोग की वार्ता है तो विन्ध्याटवी में करुण और वियोग की वेदना। दोनों अवसरों पर दोनों रूपों में ही तुलसीदास ने स्त्री-प्रकृति का सहज दर्शन किया है और ग्राम-वधूटियों के प्रसंग को तो मानस के अतिरिक्त 'गीतावली' और 'कवितावली' में भी बड़े चाव से लिया है और दिखाया भी है बड़े हुलास से बड़े ही रमणीय रूप में।

रामचरित मानस में राम और सीता की प्रधानता तो है ही, राम और सीता का रूप भी विलक्षण है। तुलसीदास ने ब्रह्म और माया को नर और नारी के रूप में दिखाकर जिस अनुपम शील, स्वभाव और गुण का परिचय दिया है उसकी आलोचना थोड़े में नहीं हो सकती। रामचरित की विशेषता यह है कि वह कई रूपों में हमारे सामने आता है। कहना चाहें तो हम कह सकते हैं कि राम का अद्‌भुत अथवा गुप्त चरित तो कभी कभी किसी पात्र के प्रसंग में दिखाई दे जाता है और वह जन्म से लेकर 'गए जहाँ सीतल अँवराई' तक कहीं न कहीं गोचर होता रहता है। हम इस रूप को अधिक महत्त्व नहीं देते और न तुलसीदास ही इसको अधिक सराहते हैं। यह तो स्वरूप-बोध कराने का प्रयत्न मात्र है। राम के शेष चरित को हम 'विपद', 'विमल' और 'ललित' रूप में पाते हैं। विशद तो वह प्रथम सोपान में रहता है, विमल द्वितीय सोपान में होता है और ललित तृतीय सोपान में बन जाता है। इस ललित चरित को देख कर ही लोग संशय, मोह और भ्रम में पड़ जाते हैं और फलतः यही सबसे गूढ और रहस्यमय है भी। राम का सीता को अग्नि को सौंपना और फिर माया की सीता से आगे के चरित को प्राकृत रूप में कर दिखाना यहीं से आरम्भ होता है। और यहीं से श्रोताओं को

सावधान करने की विशेष आवश्यकता भी पड़ती है। यह चरित तव तक वना रहता है जव तक विभीषण समुद्र तट पर राम से नहीं आ मिलता। इसमें थोड़ा सा परिवर्तन उस समय भी हो जाता है जव राम की मित्रता सुग्रीव से हो जाती है। सुग्रीव राम से मिलता है तो उसे पहले राम की शक्ति में विश्वास नहीं होता, किन्तु राम जव उसकी कसौटी पर खरे उतरते क्या आशा से कहीं अधिक समर्थ दिखाई देते हैं तव उसकी विचारधारा कुछ और ही हो जाती है। उसके सामने राज्य की वात नहीं रह जाती, वह तो ज्ञान छाँटने लगता है, पर राम उसके ज्ञान को कर्म में वदल देना चाहते हैं और तुरत यही कहते हैं—

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

परिणाम यह होता है कि सुग्रीव किष्किन्धा के राजा होते हैं और राम के सहायक वन जाते हैं। राम का वह चरित यहीं से प्रगट होता है, जिसको हम राम का 'राज-चरित' कह सकते हैं। सुग्रीव से कोई वड़ा काम राम को नहीं लेना था, अतः राम की राजनीति सुग्रीव के प्रसंग में उतनी नहीं खिली जितनी कि विभीषण के प्रसंग में। विभीषण के साथ राम ने जो व्यवहार किया और विभीषण ने राम को जिस दृष्टि से देखा सो तो अलग की वात ठहरी। यहाँ हम वताना यह चाहते हैं कि राम ने रावण-संग्राम में कोई कार्य ऐसा नहीं किया जिसका अनुमोदन स्वयं विभीषण ने न किया हो। कहना तो यह चाहिये कि विभीषण जो कुछ कहता गया, राम उसी को करते गये। विभीषण के प्रसंग में नीति की सवसे वड़ी वात तो राम ने आरम्भ में ही यह कर दी कि उसे आते ही हृदय से लगा लिया और लंकेश की उपाधि से विभूषित कर दिया। फिर उसी को अपना इस संग्राम का प्रधान मंत्री वना लिया। लंकापति विभीषण ने राम से कहा कि समुद्र पार करने के

लिये अच्छा होगा कि समुद्र से प्रार्थना करें। राम ने उसकी प्रशंसा की। लक्ष्मण ने इसमें कायरता का भाव देख कर इसका विरोध किया। राम ने उनसे धीरज धरने को कहा और अन्त में डाट कर समुद्र को अपने अधीन कर लिया। समुद्र तट पर राम का जो समय बीता वह रावण के लिये घातक सिद्ध हुआ। रावण के दूतों ने गुप्त वेश में जो कुछ यहाँ देखा उसका परिणाम यह हो गया कि वे राम के दास बन गये और रावण के विनाश का यहीं से सूत्रपात भी हो गया। फिर तो विभीषण इतना हिल-मिल गया कि राम से कुछ कहने में कभी उसको कोई संकोच ही नहीं रहा। वह तो राम का कान लगा सखा हो गया। राम सागर पार कर गये। उन्होंने सुवेल शैल की एक ऊँची चोटी पर अपना आसन जमा लिया। इस समय विभीषण की जो स्थिति हुई उसे समझ लें तो राम की सारी राजनीति आप ही विदित हो जाय। उस समय की की झाँकी लीजिये—

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥
सिखर एक उतंग अति देखी। परम रम्य सम सुभ्र बिसेषी॥
तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए। लछिमन रचि निज हाथ डसाए॥
ता पर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥
प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥
दुहु कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥
बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चाँपत बिधि नाना॥
प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन।

—लंका, ११

कान लगे लंकेश ने जो मंत्रणा की, उसका परिणाम हुआ रावण का विनाश। रावण का वध किस नाभि कुंड के भेदन से होगा, इसका भेद विभीषण ही ने तो राम को बताया था।

अस्तु, यहीं वनवासी राम, राजा राम के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और राम-राज की कीर्ति चारों ओर छा जाती है। राम-राज आज भी आदर्श शासन माना जाता है। 'राजा राम अवध रजधानी' की कहावत आज भी कही जाती है। संक्षेप में अवध की मर्यादा यह थी—

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं बाजि गज ठाटा॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥
राज-घाट सब बिधि सुन्दर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥
तीर-तीर देवन्ह के मन्दिर। चहुँ दिसि तिन्हके उपवन सुन्दर॥

और घर की व्यवस्था यह कि—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सकल सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचर्या करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥

—उत्तर, २४

तुलसी को रामचरित-मानस में राम और सीता का जो रूप इष्ट हुआ उसमें फिर कोई वियोग नहीं। 'दुइ सुत सुन्दर सीता जाये' से यह प्रगट है कि तुलसीदास 'रामचरित-मानस' में सीता का वनवास नहीं दिखाते और राम की अन्तिम छटा भी यह दिखाते हैं—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँवराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥
मारुत-सुत तब मारुत करई। पुलक वपुष लोचनु जल भरई॥

—उत्तर, ५०

राम की यह छटा ऐसी सटीक बैठी कि फिर किसी श्रोता को यह जिज्ञासा नहीं रही कि फिर राम ने क्या किया अथवा वे कहाँ गये। रामचरित-मानस में रामचरित की यहीं इति होती

है और इसके उपरान्त फिर उनकी भक्ति का कसकर निरूपण होता है और इसी में राम के अद्‌भुत चरित की झाँकी भी दिखाई जाती है। होते-होते परिणाम यह होता है कि सभी 'राम-चरित' में रम जाते हैं और अन्त में तुलसीदास भी खुलकर घोषणा कर देते हैं—

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं ॥
कलि-मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं ॥

—उत्तर, १३०

रामचरित-मानस में राजा राम का दर्शन तो हो जाता है, पर कहीं रानी सीता का कोई रूप गोचर नहीं होता। उनके सम्बन्ध में इतना कह तो दिया गया है कि उनके यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं थी, फिर भी, वह घर का सारा काम अपने आप ही कर लिया करती थीं; किन्तु कहीं उसमें इस बात का संकेत नहीं मिलता कि वह राम के राज-काज में भी कुछ हाथ बँटाती थीं अथवा नहीं। तुलसीदास ने ऐसा क्यों किया, इसको जान लेना कुछ कठिन नहीं। तुलसी ने वियोगिनी उर्मिला का कहीं नाम तक नहीं लिया और संयोगिनी सीता का नाम लिया तो बहुत, पर उनके चरित को भी सभी प्रकार से दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। कारण यह था कि राम-चरित राम और सीता के संयोग में विकसित नहीं हुआ और जो कुछ हुआ भी वह राजा राम के रूप में नहीं, वरन् मानव और तापस राम के रूप में ही। तुलसीदास ने समय समय पर सीता के चरित को जिस रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह उनके सच्चे स्वरूप के समझने में सहायक होता है। सीता और राम का मिलन जिस रूप में मिथिला की पुष्प-वाटिका में हुआ और मिलते ही एक ने दूसरे को जिस दृष्टि से देखा उसकी वह दृष्टि उसी रूप में

सीता ने गाढ़े दिन में राम का साथ दिया और उनकी प्रेरणा बराबर बनी रही और दिन-प्रतिदिन और गाढ़ी ही होती गई। से अग्नि में प्रवेश कर माया की सीता के रूप में यातनायें भी भोगीं और फिर अग्नि-परीक्षा में अपने मूल रूप को प्रगट कर पुष्पक विमान के द्वारा अपने पतिदेव के साथ अयोध्या में आ गईं। यही उनके चरित का सार है। इसमें तुलसीदास ने दो स्थलों पर सीता के मर्म को समझाने का प्रयत्न किया है। एक तो गंगापार उतरने पर जब कहते हैं—

पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी॥

और दूसरा चित्रकूट में, जब जानकी माता-पिता से कहती तो नहीं, पर कहना चाहती हैं कि अब यहाँ रहना ठीक नहीं—

कहति न सीय सकुच मन माँही। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदय सराहत सील सुभाऊ॥

सीता राम के मन को कहाँ तक जानती और मर्यादा के पालन में कहाँ तक मग्न रहती हैं, इसका जो आभास मिला है उससे सिद्ध है कि सीता सर्वदा राम के कार्य में योग देने वाली सहधर्मिणी हैं। हाँ, रामचरित-मानस में हम सीता को गृहस्थी में जितना मग्न पाते हैं उतना किसी अन्य कार्य में नहीं। बतकही या ज्ञान-चर्चा में उनका रूप नहीं खुलता। य[illegible] कार्य तो लक्ष्मण के साथ ही राम का होता है। राम एका[illegible] में सीता से इतना ही कहते हैं—

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा॥

—अरण्य[illegible]

राम सीता के प्रति जो व्यवहार करते थे, उससे उनकी प्रगाढ भावना का पता चलता है। 'प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई' में तो मर्यादा का दर्शन होता है और

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥

से उनके हृदयगत प्रगाढ प्रेम का प्यार छलकता है। तुलसी ने राम और सीता के दम्पति-जीवन को वहीं तक लिया है जहाँ तक वह सर्वोपयोगी और गृहस्थ मात्र के लिये कल्याणप्रद है। राजा राम और रानी सीता की अपेक्षा तुलसी को वनवासी राम और वनवासिनी सीता ही अधिक प्रिय हैं। और तुलसी वस्तुतः उन्हीं के उपासक हैं भी। राजा और रानी के रूप को जगाने के लिये तुलसी ने राम और सीता को नहीं लिया है। इसके लिये तो इन्होंने राजा दशरथ और रानी कौशल्या को लिया है। वास्तव में हम राजा राम को राजा के रूप में कहाँ पाते हैं? उनकी राजनीति वनवास में खुलती है तो उनका राज अवध में दिखाई देता है। बस। राजा राम की राजमंत्रणा कहीं नहीं।

'मानस' में दशरथ का प्रसंग एक घटना के रूप में उपस्थित हुआ है। दशरथ और कैकयी ने बस एक घटना घटित कर विश्राम किया है। राम के वियोग में दशरथ चल बसे और कैकयी जन्म भर ग्लानि में गलती रही। बस, यही इस प्रिय जोड़ी का मानसी रूप है। किन्तु कौशल्या की स्थिति कुछ और ही है। हम आरम्भ ही में उसे दशरथ से अधिक दक्ष पाते हैं। 'सतरूपा' के रूप में वह करुणानिधि राम रूपी ब्रह्म से प्रार्थना करती है—

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु, हमहिं कृपा करि देहु॥
—बाल, १५५

फलतः परब्रह्म राम भी कहते हैं—

जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन सब संसय नाहीं॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥
—बाल, १५६

कौशल्या को राम के अद्‌भुत रूप का साक्षात्कार दो अवसरों पर हुआ है। एक तो जन्म के अवसर पर और दूसरा इष्टदेव के पूजन पर। कौशल्या ने दूसरे अवसर पर यह प्रार्थना की कि फिर कभी आपकी माया मुझको व्याप्त न हो। हुआ भी यही। कदाचित् यही कारण है कि विश्वामित्र के साथ राम को विदा करते समय कौशल्या को कोई कष्ट नहीं हुआ और ऋषि-कार्य के हेतु जाने देने में उन्हें कोई आनाकानी भी नहीं हुई। किन्तु कौशल्या की शक्ति और समझ की सच्ची परीक्षा तो तब होती है जब दशरथ कैकेयी के भरे में आ जाते हैं और राम को किसी प्रकार अयोध्या में नहीं रख पाते। कैकेयी ने जो कुछ किया उसमें मूलतः भरत की ममता और राम का द्वेष तो था ही नहीं, था वस्तुतः कौसल्या का सपत्नी-भाव, जो उसके हृदय में उसकी कुमति तथा मंथरा के प्रपंच के कारण देवी प्रेरणा से जमा दिया गया था। कैकेयी दृढता से कहती है—

जस कौसिला मोर भल ताका। तस फलु उन्हहिं देउँ करि साका॥
होत प्रात मुनि वेष धरि, जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरन राउर अजसु, नृप समुझिय मन माहिं॥
—अयोध्या, ३३

परन्तु स्वयं कौशल्या पर इस सौतिया डाह का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके मुँह से तो अब भी यही निकलता है,

राजु देन कहि दीन्ह बनु, मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिन भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अंतहु उचित नृपहि बनबासू। वय बिलोकि हिय होइ हरासू॥
बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसु तिलकु तुम्ह त्यागी॥
जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ सन्देहू॥
पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछताऊँ॥

एहि बिचारि नहिं करहुँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ॥

—अयोध्या, ५६

माता कौशल्या माता के सामने पत्नी के अधिकार को ठुकराना नहीं चाहतीं और न इस क्षेत्र में पति पर अपना अधिकार ही जमाना चाहती हैं। उनको पुत्रवधू की इच्छा का पता हो गया है और वह राम से जानना चाहती हैं कि वह सीता को अपनी ओर से क्या सीख दें। इसी से तो सीता को रोकती नहीं और राम से स्पष्ट पूछती हैं—

अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥

परिणाम यह हुआ कि राम, सीता और लक्ष्मण अवध को छोड़ कर वन को चल पड़े और उनके वियोग में दशरथ की कुछ और ही दशा हो गई। कौशल्या को इसकी गहरी

चिन्ता हुई, किन्तु उन्होंने दशरथ को इसके लिये कोसा नहीं, अपितु उनसे कहा यह—

नाथ समुझि मन करिअ विचारू। राम वियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू॥
जौं जिय धरिअ बिनय प्रिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलिहिं बहोरी॥

—अयोध्या, १५४

जो होना था सो हो गया। दशरथ नहीं रहे। पर कौशल्या के कर्तव्य की इति अभी नहीं हुई। उनको तो अभी बहुत कुछ देखना, सुनना तथा बताना है। भरत ननिहाल से आते हैं तो सुख-शान्ति के निमित्त उन्हीं की शरण में जाते हैं और तुलसी भी विकल हो कहते हैं—

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झँइ आई॥
देखत भरत बिकल भये भारी। परे चरन तन दसा बिसारी॥

—अयोध्या, १६४

जब स्थिति का बोध होता है तब शपथ खाकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने के अतिरिक्त और क्या हाथ में रह जाता है। कौशल्या का हृदय भरत की शपथ से भर आता है और

मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरत हिय लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

—अयोध्या, १६९

यहाँ तक तो हृदय की बात रही। कर्तव्य की पुकार यह है कि—

कौसल्या धरि धीरज कहई। पूत पथ्य गुर आयेसु आहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥

बन रघुपति सुरपति नर नाहू । तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू ॥
परिजन प्रजा सचिव सब अम्बा । तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलम्बा ॥
लखि बिधि बाम काल कठिनाई । धीरज धरहु मातु बलि जाई ॥

—अयोध्या, १७६

भरत ने चित्रकूट के लिये प्रस्थान किया और पैदल चलने की ही ठान ली तो कौशल्या को उन्हें समझाकर रथ पर चढ़ाना पड़ा । भरत ने माता की आज्ञा मान ली और जैसे-तैसे चित्रकूट पहुँच गये। वहाँ उनके जी में आया कि यदि गुरु वसिष्ठ अथवा माता कौशल्या कह दें तो सारा काम बन जाय, किन्तु कठिनाई यह है कि—

अवसि फिरहिं गुर आयसु मानी । मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी ॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ । राम जननि हठ करबि कि काऊ ॥

—अयोध्या, २९३

चित्रकूट की परिस्थिति इतनी गम्भीर हो उठी कि किसी की बुद्धि काम नहीं करती । सभी कुछ न कुछ सोचते और फिर दूसरे के पक्ष पर विचार कर, कुछ सोच कर मौन रह जाते। कौशल्या को भी इस समय बड़ी चिन्ता थी। उन्होंने भी कुछ उपाय सोच निकाला था। राज-माता की दृष्टि में यह कार्य जिस प्रकार सम्पन्न हो सकता था वह यह है—

कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देवि मिथिलेसि ।
को बिबेकनिधि बल्लभहि, तुम्हहि सकइ उपदेसि ॥

रानि राय सन अवसरु पाई । अपनी भाँति कहब समुझाई ॥
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बनु । जौं यह मत मानइ महीप मन ॥

तौ भल जतनु करब सुबिचारी। मोरे सोचु भरत कर भारी॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥
—अयोध्या, २८४

कौशल्या के विषय में जो इतना कहा गया है उसका उद्देश्य है यह दिखा देना कि तुलसीदास ने रानी और राज-माता दोनों का दिग्दर्शन कौशल्या के चरित में ही कराया है और इसके लिये सीता को नहीं लिया है। कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी के शील-निदर्शन में तुलसीदास ने अपनी जिस शक्ति का परिचय दिया है उसको लेकर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं। इतने से ही तुलसीदास के चरित्र-चित्रण का कुछ आभास हो जाता है। हाँ, कुछ प्रतिनायक की चर्चा भी अवश्य हो जानी चाहिये। दशरथ वरदान की विवशता के कारण कैकेयी की सुनते हैं और अवध में शोक का निवास हो जाता है। रावण अभिमान के कारण मन्दोदरी की नहीं सुनता और उसका विनाश हो जाता है। मन्दोदरी कौशल्या की भाँति सोचती है सदा हित की बात, पर उसका सोचा उसी तक रह जाता है; उसका दुर्धर्ष रावण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

रावण को तुलसीदास ने विचित्र रूप में लिया है। उसकी घोर दारुणता का बोध तो अवतार के कारण में ही व्यक्त हो जाता है। रही उसकी प्रपंच-लीला, सो राम-चरित में सबसे पहले सामने आती है और वहीं यह भी खुल जाता है कि उसके साथ उसके पक्ष की सहानुभूति नहीं। उसके गण तो उसके आतंक के कारण ही उसका कार्य करते हैं। मारीच उसके हाथ से मर कर नरक में जाना नहीं चाहता। वह तो राम के हाथ मरना और फलतः स्वर्ग को प्राप्त करना चाहता है। यही क्रम बराबर बना रहता है। जिसकी सहायता वह
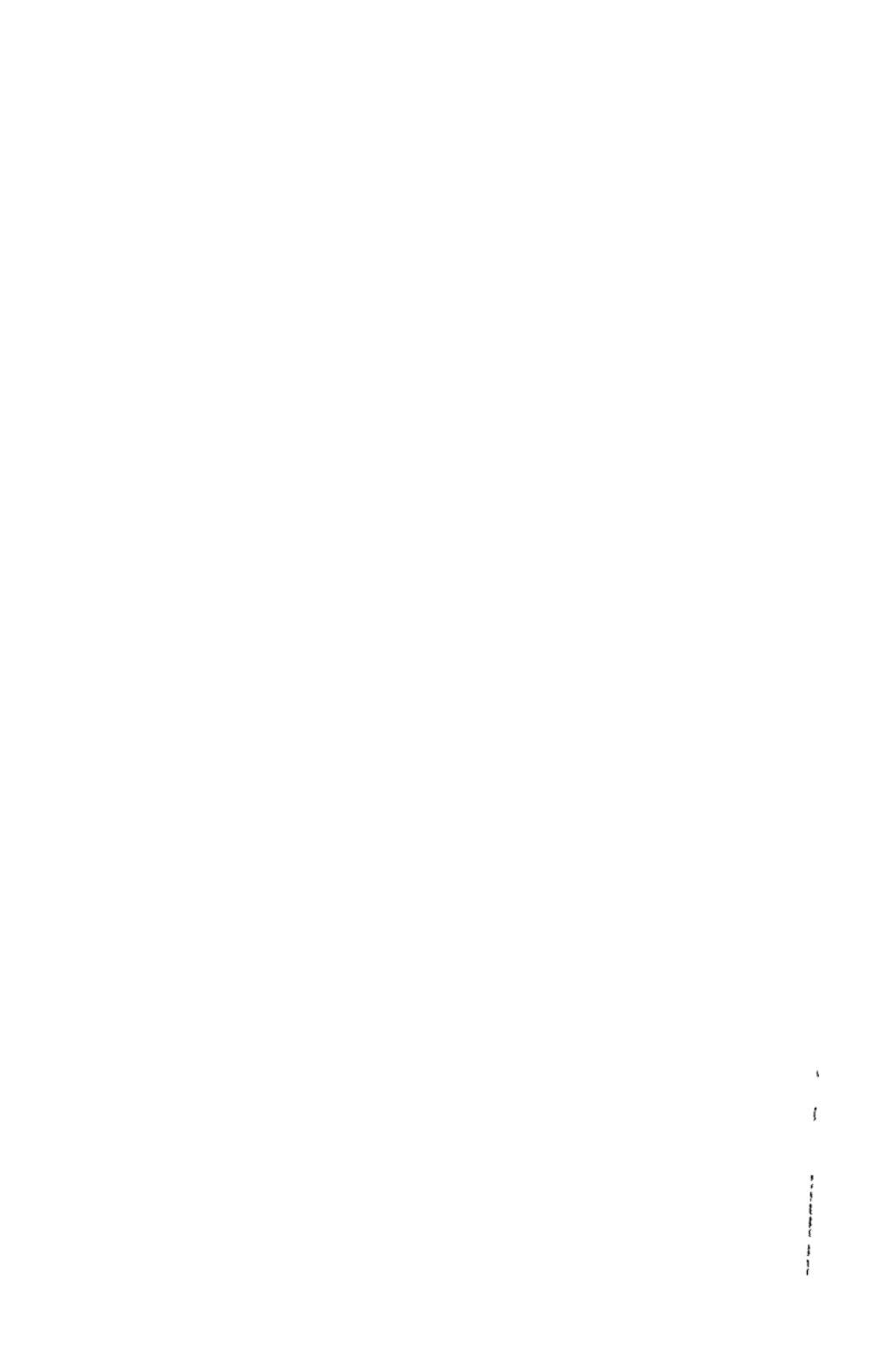
आप ही उठता और अंगद उसे बातों में ऐसा झटका देता है कि वह बल में ही नहीं, बात में भी उससे हार मान जाता है और ऐसा झेंपता है कि फिर कभी वह अंगद के सामने मुँह दिखाने के योग्य नहीं रह जाता। रावण का इससे और अधिक पतन कहीं नहीं होता। इसके उपरान्त धीरे-धीरे उसका शौर्य सामने आता है और जब कोई और राम से लोहा लेने के योग्य उसके पक्ष में नहीं रह जाता तब ऐसा साहस, पराक्रम और शौर्य दिखाता है कि सबको मानना पड़ता है कि दशानन सचमुच दशानन है और उसने जो कुछ राम से विरोध किया था वह अपने बल पर ही। ज्यों-ज्यों संग्राम गहरा होता जाता है, त्यों-त्यों उसका रंग भी निखरता जाता है। होते-होते रावण रण-भूमि में मूर्च्छित हो जाता है तो उसका सारथी उसे ले भागता है। पर सचेत होने पर रावण उसे फटकारता है और डपट कर किस दर्प से कहता है—

सठ रन-भूमि छँड़ाएसि मोही। धिग धिग अधम मंदमति तोही॥

लड़ते-लड़ते जब वह जूझने को होता है तब भी उसका साहस कम नहीं होता। उसका अभिमान और भी उमंग के साथ गरज पड़ता है—"कहाँ राम रन हतौं प्रचारी।"

सच है। राम के उस विरोधी ने अपनी आन के सामने किसी राम को कभी कुछ नहीं गिना और कहा तो यह जाता है कि उसने राम से अन्त में इतना और भी कहा था कि जीते जी आपसे हमारा धाम नहीं लिया गया, पर आपके जीते जी आप से वैर कर मैं आपका धाम ले रहा हूँ। फिर बात क्या? जो हो, तुलसीदास का कथन है—

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥

भाव यह कि तुलसीदास ने रामचरित-मानस में नायक तथा प्रतिनायक दोनों को ही बढ़ाया है। रावण बहुत बड़ा होकर मरा है। उसकी वीरगति पर किसको ईर्ष्या नहीं होगी ? उसका आतंक कभी पहले उतना नहीं था जितना कि मरते समय उसके दृढ आचार से हो गया था। शेष पात्रों की दशा भी ऐसी है।

भक्ति-निरूपण

कोरे चरित को लेकर 'राम-चरित-मानस' की रचना नहीं हुई है। नहीं, वह तो हुई है राम के शील और भक्ति को लेकर ही। भक्ति का प्रतिपादन 'राम-चरित-मानस' में तुलसीदास ने किस विधि से किया है, इसको लेकर तर्क-वितर्क अथवा भाँति-भाँति के कुतर्क करने की आवश्यकता नहीं। तुलसीदास ने स्वयं इसको प्रत्येक सोपान के अन्त में खोल दिया है। प्रथम सोपान के अन्त में लिखते हैं—

सिय रघुबीर बिवाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन कहुँ सदा उछाहु, मंगलायतन राम जसु॥

तात्पर्य यह कि प्रथम सोपान में जो मंगल का विधान हुआ है, उससे किसी के हृदय में, जो प्रेम-पूर्वक इसका श्रवण, मनन करेगा, उत्साह उत्पन्न होगा और वह उत्साह 'राम-चरित' की ओर अग्रसर करेगा। द्वितीय सोपान के अन्त में कहा गया है—

भरत चरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु, अवसि होइ भवरस विरति॥

भाव यह कि द्वितीय सोपान में जो भरत का त्याग दिखाया गया है, वह संसार से मोड़ने और राम से जोड़ने में समर्थ है। उससे राम में अनुराग उत्पन्न होगा और संसार-सुख की कामना कभी न होगी। तृतीय सोपान की स्थिति यह है —

> रावनारि जसु पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग।
> राम भगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जपु जोग॥

यहाँ इतना और भी टाँक लेना चाहिये कि यहाँ से प्रत्येक सोपान की पुष्पिका में उस सोपान का नामकरण भी हो गया है। इसका कारण यही है कि यहाँ से 'ललित' चरित का आरम्भ होता है और यहीं से संशय, भ्रम और मोह के उच्छेदन का प्रबल प्रयत्न चलता है। तृतीय सोपान का नाम है 'विमल वैराग्य सम्पादन' जिसका रामभक्ति से गहरा सम्बन्ध है। इसके उपरान्त चतुर्थ सोपान की पुष्पिका आती है, जिसमें उक्त सोपान को 'विशुद्ध सन्तोष सम्पादन' नाम दिया गया है और उसके पाठ का फल यह बताया गया है —

> भव भेषज रघुनाथ जस, सुनहिं जे नर अरु नारि।
> तिन्हकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

मनोरथ का सिद्ध होना सन्तोष का कारण है। उसके बिना सन्तोष नहीं हो सकता। 'विमल वैराग्य' और 'विशुद्ध सन्तोष' के उपरान्त 'विमल ज्ञान सम्पादन' का सोपान प्रस्तुत हुआ है और उसका फल बताया गया है —

> सकल सुमंगल दायक, रघुनायक गुन गान।
> सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जलयान॥

ज्ञान से मुक्ति का जो सम्बन्ध है, उसको सभी लोग

इसी को व्यक्त करने के विचार से 'विमल', 'विशुद्ध' और 'अविरल' का प्रयोग उक्त सोपानों के साथ प्रसंगानुसार किया है। रामचरितमानस की यह विशेषता है कि इसके भक्ति सम्पादन में जो विमलता, जो विशुद्धता और जो अविरलता है वह अन्यत्र नहीं। इसमें सभी कुछ विमल और विशुद्ध है और है अति घना भी—घनत्व को लिए हुए भी। रामचरितमानस का यही प्रतिपाद्य विषय है और है ऐसा ही रामचरितमानस में राम-भक्ति का प्रतिपादन भी।

रामचरितमानस में जिस रस-विशेष की चर्चा हुई है उसमें निमग्न होने के हेतु जो घाट और जो सोपान बने हैं उनके वारे में पहले भी कुछ कहा जा चुका है। रामचरितमानस के सप्त सोपान भक्ति-मार्ग की सप्त भूमियाँ हैं। इन भूमियों के विषय में तुलसीदास ने स्वयं ही बहुत कुछ कह दिया है और अन्त में यह भी दिखा दिया है कि वह अनुपम भक्ति रस किस प्रकार प्राप्त होता है, जो जीव के परम कल्याण और जगत् के परम हित का कारण होता है। तुलसीदास ने भक्ति का निरूपण भाँति भाँति से किया है। सुभीते के लिये हम कह सकते हैं कि तुलसीदास ने प्रकट, प्रत्यक्ष और परोक्ष तीनों रूपों में भक्ति को दृढ, व्यापक, सहज और सुबोध बनाया है। तुलसीदास को इतने से ही सन्तोष नहीं होता कि स्वयं शंकर और कागभुसुंडि उसका निरूपण करते हैं और बहुत से ऋषि, मुनि तथा देवादि भी आ आ कर राम की वन्दना और अपने भक्ति-भाव का परिचय देते हैं। नहीं, उन्हें तो इसको सुचारु रूप से जमाने के लिये यह भी अनिवार्य दिखाई देता है कि स्वयं राम भी अपने श्रीमुख से प्रकट रूप में कुछ कह दें जिसकी भक्ति के लिये हम अग्रसर

होते हैं। यही कारण है कि मानस में राम स्वयं लक्ष्मण को इसका रहस्य समझाते हैं और शबरी पर भी अपना भाव प्रकट कर देते हैं। राम ने अति संक्षेप में लक्ष्मण से जो कुछ कहा है वही तुलसी का इष्ट मत समझना चाहिए। लक्ष्मण का प्रश्न है —

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा।
कहहु ज्ञान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥

ईस्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति, सोक मोह भ्रम जाइ॥

अरण्य, ८

और राम का समाधान है —

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिय तात सो परम विरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिय सो जीव।
बंध मोछप्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव॥

धर्म तें विरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना॥
जा तें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहिं आधीन ग्यान विग्याना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥

भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।
प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती।
येहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।
श्रवनादिक नव भगति दृढाहीं। मम लीला रति अति मनमाहीं।
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ नेमा।
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानै दृढ सेवा।
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

बचन करम मन मोरि गति, भजनु करहिं निहकाम।
तिन्हके हृदय कमल महुँ, करौं सदा बिश्राम॥

—अरण्य,९-१०

संक्षेप में, यही तुलसी का भक्तियोग है। इसमें जो साधना की बात कही गई है उसको शबरी के प्रसंग में भी देख लेना चाहिये। वहाँ भी राम का यही कहना है कि बस, भक्ति का नाता ही परम नाता है और नवधा भक्ति का रूप है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करै कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥
नव महुँ एकौ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ तोरें॥

—अरण्य,२९-३०

ध्यान देने की बात है कि यहाँ नव में से एक भी राम का कृपापात्र बनाने में पर्याप्त है। राम ने इस प्रकार भक्ति के स्वरूप, उसके साधन और उसके प्रकार को सब पर प्रकट कर दिया है। लक्ष्मण से राम ने जिस हृदय-कमल में सदा विश्राम करने की बात कही है वह कुछ पहले भी आ चुकी है। वाल्मीकि राम से हँस कर कहते हैं —

जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे।
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक।

जस तुम्हार मानस बिमल, हँसिनि जीहा जासु।
मुकुताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु॥

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा।
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी।
कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा।
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं।
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा।
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाइ देहिं बहु दाना।
तुम्हतें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी।

सब करि माँगहिं एकु फलु राम चरन रति होउ।
तिन्हके मन मंदिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ।

काम क्रोध मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया।

सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥
जननी सम जानहिं पर नारी। धनु पराव विष तें विष भारी॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी॥
जिन्हहिं राम तुम प्रान पियारे। तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे॥

स्वामि सखा पितु मातु गुर। जिन्हके सब तुम तात॥
मनमन्दिर तिन्हके बसहु। सीय सहित दोउ भ्रात॥

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीति निपुन जिन्हकै जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदनु सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ उर लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा॥

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥

—अयोध्या, १२८-१३१

वाल्मीकि ने राम से जो कुछ कहा है, वह भक्त के आचार-विचार, बात-व्यवहार और भाव-भजन को लक्ष्य कर ही कहा है। 'विनय-पत्रिका' में तुलसीदास ने किस प्रकार अपने आप को इसका अधिकारी बनाया है, इसका विचार यहाँ न होगा। यहाँ तो 'मानस' के प्रसंग में कहा केवल इतना ही जायगा कि राम का सुखद और इष्ट सदन है वही, जिसका उल्लेख तुलसी ने इस प्रकार किया है—

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे।
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी॥

हाँ, इस 'चातक' को यदि आपने समझ लिया तो तुलसी को परख लिया। इसको एकत्र देखना हो तो 'दोहावली' के 'चातक-चौंतीसा' का मनन करें और देखें कि तुलसीदास किस चातक को क्यों अपना आदर्श बनाते हैं और क्यों उसकी भावना को सर्वथा अपनाना चाहते हैं। कहते हैं —

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम-घनस्याम-हित, चातक तुलसीदास।
—दोहावली, २७७

राम ने प्रकट रूप में भक्ति-योग की जो व्याख्या की उसको और भी अधिक हृदयंगम करने की दृष्टि से अच्छा होगा कि हम राम के स्वरूप को भी कुछ और ठिकाने से जान लें। तुलसीदास ने इसी से इसको आदि और अन्त में उभय प्रकार से सविस्तर दिखाया है। आदि में शंकर पार्वती से बड़ी दृढता से कहते हैं—

अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराज कुमारि, भ्रम तम रविकर वचन मम॥

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष- बिषाद ग्यान अग्याना। जीव-धर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥

—बाल, १२०-२१

इस 'प्रकाश' रूप भगवान् को जीव क्यों नहीं देख पाता और क्यों इसके सम्बन्ध में नाना प्रकार का कुतर्क किया करता है इसका भी कुछ कारण है और कारण है राम की अकृपा ही। परिणाम यह होता है कि—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥
विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥

—बाल, १२२

माया के प्रताप से यह सब कुछ होता है। माया सत्य नहीं है पर उसी प्रकाशक राम के प्रकाश के कारण वह प्रकाशित हो उठती है और उसमें मोह के कारण सत्य का आरोप हो जाता है। जहाँ जग इस रूप में आँखों के सामने आया कि जीव उसकी आभा में उलझ गया और फिर उसी में मग्न हो अपने सच्चे स्वरूप को भुला विपदा में फँस गया। उसका उद्धार यदि हुआ तो उसी प्रकाशक की कृपा से, जिसके सम्बन्ध में वेद भी अपनी मति के अनुसार कुछ निषेधरूप में ही कहता है—

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
ज्यौं सपने सिर काटै कोई । बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा । मति अनुमान निगम अस गावा ॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस-भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान ॥
—बाल, १२२

वेद 'मति' की बात कहता है और शंकर अनुभूति को प्रकट करते हैं। शंकर की भाँति ही कागभुसुंडि भी आप बीती सुनाते और गरुड से खुलकर कह जाते हैं —

असि रघुपति लीला उरगारी । दनुज बिमोहनि जन सुखकारी ॥
जे मति मलिन बिषय बस कामी । प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ॥
नयन दोष जा कहँ जब होई । पीत बरन ससि कहुँ कह सोई ॥
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा । सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥
नौकारूढ चलत जग देखा । अचल मोह बस आपुहि लेखा ॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहि गृहादी । कहहिं परसपर मिथ्याबादी ॥
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा । सपनेहु नहिं अग्यान प्रसंगा ॥
माया बस मतिमंद अभागी । हृदय-जवनिका बहु बिधि लागी ॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं । निज अग्यान राम पर धरहीं ॥

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप ।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तम कूप ।

निर्गन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥

—उत्तर, ७३

कागभुसुंडि के इस कोप को आप तभी समझ सकते हैं जब आप यह भी समझ लें कि भक्त भगवान् की निन्दा नहीं सुन सकता। यदि उसका हाथ चलेगा तो वह निन्दक की जीभ काट लेगा। अन्यथा कान मूँद कर दूर निकल जायगा। यही तुलसी का पक्ष है। इसे तुलसी की कट्टरता कहिये, तन्मयता कहिये, जो चाहिये सो कहिये, पर तुलसी की भक्ति-भावना है ऐसी ही—दृढ, अचल और निर्मम। कागभुसुंडि ने निर्गुण रूप को अति सुलभ कहा है। था भी उस समय वह ऐसा ही। जिसमें कोई गुण नहीं वह भी निर्गुण का बाना धारण कर इधर-उधर उपदेसता फिरता था। सगुण का जानना कठिन है। उसको कोई जानता ही नहीं। गुण की परख भी तो गुणी को ही होती है। किन्तु सब से विलक्षण स्थिति है चरित की। वह सुगम भी है, अगम भी है और है ऐसा विचित्र कि उसको सुनकर मुनि-मन भी भ्रम में पड़ जाता है। उस भ्रम का कारण है माया का प्रसार।

राम की माया सब को नचाती रहती है। उसकी वहीं नहीं चलती जहाँ कि भक्ति का निवास होता है। कारण यह कि वह नर्तकी ठहरी। उसकी राम-प्रिया भक्ति के सामने कब चल सकती है? उसकी आवश्यकता तो मनोरंजन, विनोद, कौतुक अथवा लीला के लिये ही है। हृदय रमाने अथवा विश्राम पाने के लिये वह नहीं—

माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारिवर्ग जानैं सब कोऊ ॥
पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी ॥

भगतिहिं सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥
अस विचारि जे मुनि बिग्यानी। जचहिं भगति सकल सुखखानी॥

—उत्तर, ११६

यह नर्तकी माया के रूप में राम के नाट्य में योग देती है और अविद्या के रूप में जीव को नाना प्रकार का नाच नचाती है; पर जहाँ जीव भक्ति की गोद में गया तहाँ वह अपना रूप बदल देती है और विद्या के रूप में धाय का काम करने लग जाती है। जो पहले बाधक थी वही अब साधक बन जाती है। ऐसी स्थिति में यह जीव की मूढ़ता नहीं तो और क्या है कि वह अपने को बन्धन में देखता और उससे मुक्त होने का उपाय रचता फिरता है? उसको यह नहीं सूझता कि माया से मुक्त होना उसी के हाथ में है। वह अपने हृदय में भक्ति को स्थान दे तो उसको मुक्ति की भी चिन्ता न रहे और वह राम-मय होकर माया को भी अपना अंग बना ले। क्योंकि उसकी स्थिति है—

ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।
सो माया बस भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।

कीर और मरकट भ्रम और लोभ में पड़कर किस प्रकार अपने को विवेकशून्य हो बँधा हुआ मान लेते हैं, इसको कोई भी देख सकता है। यदि बन्दर अपनी मुट्ठी को खोल दे और माया के फेर में न रहे तो वह उससे मुक्त हो स्वच्छन्द विचर सकता है और यदि कीर भी नली को अपने हाथ से छोड़ दे, उलट जाने पर भी उसको और दृढ़ता से न गहे तो वह भी जहाँ चाहे फुर से उड़कर विहार कर सकता है; परन्तु नहीं, माया के प्रपंच में पड़कर दोनों ही ऐसा नहीं कर पाते और फिर शीघ्र

ही सचमुच बन्धन में आ जाते हैं। यही दशा माया-ग्रस्त जीव की भी है। किन्तु इस मायाकृत अन्धकार को दूर करने का सुगम उपाय है भक्तिमणि के प्रकाश को प्राप्त करना, जिसकी विधि है—

पावन पर्वत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुख-खानी॥

—उत्तर, १२०

भक्ति की ओर मुड़ने के लिये मानस-रोग से मुक्त होना भी आवश्यक है। उसका विधान है —

सद्गुरु बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवनि मूरी। अनूपान श्रद्धा अति रूरी॥
यहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

तुलसीदास ने भक्ति-योग का जो प्रतिपादन इस प्रकार किया है, उससे प्रकट होता है कि तुलसीदास ज्ञान के विरोधी नहीं। तुलसी ज्ञान के महत्व को मानते हैं और उसे भक्ति का अनिवार्य अंग भी बताते हैं। यह भी नहीं कि तुलसी ज्ञान को मोक्ष का साधन ही न समझते हों। नहीं, उन्होंने ज्ञान को मोक्षप्रद माना भी है और उसको भक्ति के समान ही भव-खेद के नाश का कारण भी कहा है, किन्तु साथ ही तुलसी उसकी कठिनाई को भी जानते हैं और इसी से ज्ञान-दीपक का सांग रूपक भी सबके सामने रख देते हैं, जिससे लोग उसकी सूक्ष्मता, कठिनता और क्षणभङ्गुरता को समझ लें। तुलसी ने लोमश ऋषि की कथा को बड़े ही ढंग से लिया है। भूलिये नहीं, लोमश ऋषि रामचरितमानस के वक्ता हैं।

कागभुसुंडि को उसका बोध कराते हैं, पर साथ ही ज्ञान-मार्ग के भी पंडित भी एक ही हैं। अतः जब देखते हैं कि यह ब्राह्मण बहुत ही विज्ञ और निपुण है तब उसे ज्ञान-मार्गी उपदेश देने में मग्न होते हैं। उधर ब्राह्मण-बालक को भक्ति का हठ है। वह किसी दशा में भी ज्ञान को भक्ति से बढ़ कर नहीं देख सकता। परिणाम यह होता है कि वह निर्गुण का खण्डन और सगुण का मण्डन करने लगता है। होते-होते हुआ यह कि ऋषि क्रोध में आ गये और उनका सारा ज्ञान जाता रहा। उन्होंने ब्राह्मण को शाप दिया और वह हो गया ब्राह्मण से काग। देखिये उस ब्राह्मण-बालक की चिन्ता है—

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान॥

—उत्तर, १११

तुलसी आज भी इसका उत्तर चाहते हैं और अपनी ओर से कहा यह चाहते हैं—

उमा जे राम चरन-रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

—उत्तर, ११२

निश्चय ही तुलसी भक्ति-योगी हैं, ज्ञान-योगी कदापि नहीं; पर तुलसी का भक्ति-योग वास्तव में वह योग है जिसमें ज्ञान का सारा प्रसार समा जाता है और वह किसी प्रकार भक्ति का विरोध नहीं कर पाता। रामचरितमानस के जितने पात्र हैं, जिस दशा में हैं, इस भक्ति से प्रभावित हैं। भाव चाहे प्रेम का हो चाहे वैर का, पर है भक्ति ही का। रामचरितमानस में जो अद्वैत की पदवाली दिखाई देती है और जो अद्वैत का

पक्ष व्यक्त होता है उसका कारण है अद्वैतियों का भी भक्ति का प्रतिपादन करना। अद्वैती भी भक्ति का विरोधी नहीं, उसका पोषक होता है। यह बात दूसरी है कि वह उसको ज्ञान से अल्प समझता है। अतएव मानना ही होगा कि तुलसीदास ने जो मानस-रूपक में 'भगति निरूपण विविध विधाना' की प्रतिज्ञा की है उसको सभी प्रकार से मानस में निभाया भी है।

हाँ, ब्रह्म, जीव और माया को तुलसी ने 'मानस' में प्रस्तुत के साथ ही साथ कहीं कहीं अप्रस्तुत के रूप में भी लिया है—राम को ब्रह्म, लक्ष्मण को जीव और सीता को माया के रूप में देखा है। तो भी तुलसीदास की दृष्टि जितनी राम पर रही है उतनी माया पर नहीं। फिर भी उन्होंने माया के बारे में कहा बहुत कुछ है। तुलसीदास ने जीव, जगत् और ईश्वर की त्रयी को न लेकर जीव, माया और ब्रह्म की त्रयी को ग्रहण किया है और लक्ष्मण, सीता तथा राम के रूप में जहाँ तहाँ 'मानस' में इसका निर्देश भी किया है। यदि 'मानस' में लक्ष्मण अनन्त के अवतार नहीं कहे जाते तो उनको जीव का प्रतीक मानने में कोई बाधा नहीं पड़ती। सो भी जैसे ब्रह्म होने पर भी राम के नरत्व में कोई अड़चन नहीं बताई जाती, वैसे ही लक्ष्मण के अनन्त होने पर भी उनके जीवत्व में कोई अड़चन क्यों देखी जाय और क्यों न उनको जीव का रूप ही समझा जाय?

जीव और ब्रह्म की अपेक्षा तुलसी का माया-विचार ही अधिक गूढ़ है; उसी के चक्कर में लोग रहते और अधिक से अधिक अपना ज्ञान दिखाते हैं। फलतः तर्क-वितर्क भी कुछ कम नहीं होता। सहायता के लिये जब वे तुलसीदास के अन्य ग्रन्थों को हाथ में लेते हैं तब उनकी दृष्टि विनय पत्रिका

के इस पद पर सहसा जा अटकती है और बुद्धि बड़ी तत्परता से कुछ अर्थ निकालना चाहती है । अच्छा तो तुलसीदास का वह प्रसिद्ध पद है —

> केसव कहि न जाइ का कहिए ?
>
> देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ॥
>
> सून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे ।
>
> धोए मिटै न मरै भीति-दुख पाइय यहि तनु हेरे ॥
>
> रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
>
> बदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ॥
>
> कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै ।
>
> तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥
>
> —विनयपत्रिका, १११

तुलसीदास ने इस पद में सत्य, झूठ और दोनों की प्रबलता से अलग रह कर आत्मतत्त्व में लीन होने का उपदेश दिया है। यह तो ठीक ही है। परन्तु देखना यह चाहिये कि इन तीनों में से तुलसीदास किसको मुख्य समझते थे। तुलसीदास अपनी स्थिति को आप ही स्पष्ट कर देते हैं —

> हे हरि कस न हरहु भ्रम भारी ।
>
> जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहि कृपा तुम्हारी ।
>
> —विनयपत्रिका, १२०

प्रपंच है तो मृषा, किन्तु जो तापों का अनुभव हमें प्रतिक्षण हो रहा है वह नष्ट कैसे हो। तुलसी का निष्कर्ष है —

> हे हरि यह भ्रम की अधिकाई ।
>
> देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई ॥
>
> जौ जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होहि कहहु केहि लेखे ।

कहि न जाइ मृगबारि सत्य, भ्रम तें दुख होइ बिसेखे ॥
सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै ॥
अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया बिवेक तें ब्यवहारी सुखकारी ॥
तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ स्रुति गावै।
रघुपति-भगति संत-संगति बिनु को भवत्रास नसावै ॥
—विनयपत्रिका, १२१

यदि तत्त्व-दृष्टि से देखा जाय तो इसमें तुलसीदास ने अपने पक्ष को खोल कर रख दिया है। 'जदपि झूठ स्रुति गावै' से स्पष्ट है कि तुलसीदास परमार्थतः विधि-प्रपंच अथवा संसार को झूठ ही मानते हैं; परन्तु वह उसकी मीमांसा में मग्न नहीं होते। कारण यह कि उसकी मीमांसा से भ्रम दूर नहीं होता। उससे तो संशय और सन्देह की उलझन भी नहीं जाती। अतः इस भव-जाल से मुक्त होने का मार्ग कुछ और ही है। तुलसीदास इतना और भी कहते हैं कि संसार उसी को शून्य दिखाई देता है जिसमें विचार का अभाव है। विचारशील व्यक्ति को तो संसार बहुत भयंकर प्रतीत होता है। हाँ, इस संसार में इतनी-विशेषता अवश्य है कि जो व्यक्ति इस व्यवहार को सम, संतोष, दया और विवेक की दृष्टि से देखता है, उसको इसमें सुख की प्राप्ति भी हो जाती है, पर इसका त्रास नष्ट नहीं हो पाता। वह तो वस्तुतः राम की भक्ति और संत की संगति से से ही नष्ट होता है। निदान—

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट-आगार ॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किए बिचार।

ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ॥
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार ।
महामोह-मृगजल-सरिता महँ बोरयो हौं बारहिं बार ॥
सुनु खल, छल बल कोटि किए बस होंहि न भगत उदार ।
सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार ॥
तासों करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार ।
सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं व्यवहार ॥
निज हित सुनु सठ, हठ न करहि जो चहहि कुसल परिवार ।
तुलसिदास प्रभु के दासन तजि भजहि जहाँ मद मार ॥
—विनयपत्रिका, १८८

तुलसीदास ने संसार को जा चुनौती दी है और उस पर नन्दकुमार की जो धौंस जमाई है वह तो साहित्य की बात हुई। दर्शन के क्षेत्र में भी इस 'व्यवहार' से सिद्ध हो जाता है कि तुलसीदास श्री स्वामी शंकराचार्य के परमार्थ और व्यवहार को ठीक समझते थे। तुलसीदास ज्ञान के क्षेत्र में शंकर के अनुयायी हैं, परन्तु भक्ति के क्षेत्र में उनसे कुछ अलग हो जाते हैं। उनकी दृष्टि व्यवहार पर ही अधिक है और उनको ज्ञान की उपेक्षा भक्ति का पक्ष ही सरस, सुबोध, व्यापक और परिपुष्ट दिखाई देता है। संसार चित्त का विलास है तो इसका सच्चा स्वरूप भी उसी चित्त में भासित होता है, जो राम की भक्ति से स्वच्छ, निर्मल और प्रसन्न हो चुका है। तुलसीदास इस मन की रचना को बड़े ढंग से समझाते हैं। देखिये वस्तुस्थिति क्या है और समें मन का हाथ कितना है। कहते हैं—

जौं निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा ॥
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई ।

त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं ॥
असन, वसन, पसु, बस्तु विविध विधि सब मन महँ रह जैसे ।
सरग, नरक, चर-अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ॥
बिटप मध्य पुत्रिका, सूत्र महँ कंचुक बिनहिं बनाए ।
मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत, अवसर पाए ॥
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास कह चिद्-बिलास जग बूझत बूझत बूझै ॥

—विनयपत्रिका, १२४

मन की बात मन में बैठ सकती है, पर हमारा उद्धार तो तभी हो सकता है जब हम इस मन को अपने अधीन कर लें। इसके निमित्त संन्यास सबको सस्ता दिखाई देता है, पर तुलसीदास इससे दूर ही रहना चाहते हैं। कारण कि वह चट बने-ठने संन्यासियों के कर्मों से भली भाँति परिचित हैं और यह भी प्रत्यक्ष देखते रहते हैं कि इसके कारण संसार में कैसी घोर अव्यवस्था फैलती जाती है। कहने को तो सभी ब्रह्म बन बैठे हैं, पर दृष्टि लगी रहती है सदा सब की दाम पर ही। इसी से तुलसीदास का अन्तिम निश्चय है—

नाहिन आवत आन भरोसो ।

यह कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम-फलनि फरो सो ॥
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो ।
पाएहि पै जानिबो करम-फल, भरि-भरि बेद परोसो ॥
आगम-बिधि, जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो ।
सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सो ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो ।
बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥
बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो ।

गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भवसागर, चाहै तरन तरो सो॥
—विनयपत्रिका, १७३

तुलसीदास ने जिस राम-भजन को राजमार्ग कहा है, वस्तुतः वह है क्या? राम-भजन को लेकर जो कबीर आदि निर्गुण सन्त चले थे वह तो राज-मार्ग नहीं था। वह तो 'चलहिं पंथ अनेक' का ही परिचायक था। वह 'श्रुति-सम्मत' तो नहीं और चाहे जो कुछ हो। तुलसीदास ने जिस राम-भजन को लिया है वह सबका जाना-सुना और मन भाया हुआ भी है। उसमें सभी साधनों का सार और सभी इन्द्रियों का प्रसाद भी है। उस राम में रम जाना कितना सहज, सरल और सुयोग है, इसको वही जान सकता है जो रामचरित को श्रद्धा की दृष्टि से देखता और भक्ति के कान से सुनता है। तुलसीदास का परम आदेश तो यह है—

जौ मन भज्यो चहै हरि-सुर-तरु।
तौ तजि बिषय बिकार, सार भजु, अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ए चारि दृढ़ करि धरु।
काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु॥
स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि अग जग रूप भूप सीताबरु॥
इहै भगति बैराग्य ग्यान यह हरि-तोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिन डरु॥
—विनयपत्रिका, २०५

तुलसीदास का शिव-प्रतिपादित, कल्याणकारी राज-मार्ग आपके सामने आ गया। आप उस पर अभी ठीक-ठीक चल

नहीं सकते। कारण यह कि इसमें 'सेवा कर' 'अनुसरु' का विधान भी है, जिसको समझाने में अभी कुछ कठिनाई भी होगी। 'सेवा कर' का सीधा अर्थ हुआ—हाथ से सेवा करो और 'अनुसरु' का अर्थ हुआ—अनुसरण करो। किन्तु इस अनुसरण का सम्बन्ध है किससे? कर से अथवा चरण से? हमारी दृष्टि में 'सेवा कर' के द्वारा तुलसीदास ने मूर्तिपूजा को महत्त्व दिया है और अनुसरु के द्वारा तीर्थ-यात्रा को। यात्रा के सम्बन्ध में तो उनका प्रत्यक्ष विषाद है—

> चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।
> राम-सीय-आस्रमनि चलत त्यों भये न स्रमित अभागे॥
>
> —विनयपत्रिका, १७०

और मूर्ति-पूजा के विषय में उनका मत है—

> मन, इतनोई या तनु को परम फलु।
> सब अँग सुभग बिंदुमाधव छबि, तजि सुभाउ, अवलोकु एक पलु॥
> तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु, नख-दुति हृदय-तिमिरहारी।
> कुलिस-केतु-जव-जलज रेख बर, अंकुस मन-गज बसकारी॥
> कनक जटित मनि नूपुर, मेखल कटितट रटति मधुर बानी।
> त्रिबली उदर गँभीर नाभि-सर जहँ उपजे बिरंचि ग्यानी॥
> उर बनमाल, पदिक अति सोभित, बिप्रचरन चित कहँ करषै।
> स्याम-तामरस-दाम-बरन बपु पीत बसन सोभा बरषै॥
> कर कंकन केयूर मनोहर, देति मोद मुद्रिक न्यारी।
> गदा-कंज-दर-चारु-चक्रधर नागसुंड-सम भुज चारी॥
> कंबु ग्रीव छबि सींव चिबुक द्विज अधर अरुन उन्नत नासा।
> नव राजीव नयन, ससि आनन, सेवक सुखद बिसद हासा॥
> रुचिर कपोल, स्रवन कुंडल, सिर मुकुट, सुतिलक भाल भ्राजै।
> ललित भ्रकुटि, सुंदर चितवनि, कच निरखि मधुप अवली लाजै॥

रूप सील गुन खानि दच्छ दिसि सिंधु सुता रत पदसेवा ।
जाकी कृपा कटाच्छ चहत सिव विधि मुनि मनुज दनुज देवा ॥
तुलसिदास भव त्रास मिटै तब जब मति यहि सरूप अटकै ।
नाहित दीन मलीन हीन सुख, कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै ॥

—विनयपत्रिका, ६२

तुलसीदास ने यहाँ इस बात का उल्लेख नहीं किया कि लोग किस प्रकार विन्दुमाधव की पूजा करते हैं। उनका ध्यान तो बस इस पर रहा है कि विन्दुमाधव किस प्रकार किसी हृदय में घर कर जाते हैं और उसकी बुद्धि उसके स्वरूप में रम जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तुलसीदास मूर्तिपूजा को ठीक नहीं समझते। नहीं, उनकी दृष्टि में मूर्तिपूजा की उपयोगिता है और उपयोगिता है मूर्ति की भी। मूर्ति की छटा तो आपके सामने आ ही गई, पर मूर्तिपूजा का रहस्य अभी आप पर नहीं खुला। सो इसका भेद भी कुछ खोल लेना चाहिये। तुलसी का एक दोहा है—

अपनो एपन निज हथा, तिय पूजहि निज भीति।
फलै सकल मनकामना, तुलसी प्रीति प्रतीति ॥

—दोहावली, ४२४

तुलसीदास ने इसी 'प्रीति-प्रतीति' में सब कुछ कह दिया है। जिसकी जैसी प्रीति-प्रतीति होगी, उसको वैसा ही फल भी प्राप्त होगा। पत्थर की पूजा चली ही क्यों? इसी प्रीति-प्रतीति के कारण तो? तुलसी स्वयं इसे कह देते हैं—

बैरी बिदारि भये बिकराल कहे प्रहलादहि के अनुरागे ।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे ॥

—कवितावली, उत्तर, १२८

और इसी से तो तुलसी को खुलकर इतना और लिखना पड़ा है कि—

अंतर्जामिहु तें बड़ बाहरजामी हैं राम जो नाम लिए तें।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यौं बालक बोलनि कान किए तें॥
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये तें।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें॥
कवितावली, उत्तर, १२६

तुलसीदास ने रामचरितमानस में मूर्ति को हँसाया तो प्रतिमा को रुलाया भी है। पहले मूर्ति का मुसकाना देख लीजिए—

बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसकानी।
—बाल, २४१

रही प्रतिमा के रोने की बात, सो मंदोदरी के साथ देखिए—

दस दिसि दाह होन अति लागा। भयउ परब बिनु रबि उपरागा॥
मंदोदरि उर कंपित भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी॥
—लंका, १०२

तो भी भूलना न होगा कि तुलसीदास मूर्तिपूजा को कलियुग का प्रमुख साधन नहीं मानते और इसी से कहते भी हैं—

कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि, नाम तें पावहिं लोग॥

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि करम भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाउ न दूजा॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥

जे यहि भाँति भजन किए, मिले रघुपति ताहि।
तुलसिदास प्रभु पथ चढ्यो, जो लेहु निबाहि॥

—विनय, १०८

और इस भावभजन किंवा 'मानस-पूजा' की आरती है—

ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
हरन दुख द्वंद गोविंद आनंद घन॥
अचर-चर-रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत, इति बासना-धूप दीजै।
दीप निज-बोध गत क्रोध मद मोह तम, प्रौढ अभिमान चितवृत्ति छीजै॥
भाव अतिसय विसद-प्रवर, नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोष कारी।
प्रेम तांबूल, गतसूल संसय सकल, विपुल-भवबासना-बीज-हारी॥
असुभ-सुभकर्म घृत-पूर्न दस वर्तिका, त्याग पावक, सतोगुन-प्रकासं।
भगति वैराग्य-विग्यान-दीपावली अर्पि नीराजनं जग निवासं॥
बिमल-हृदि-भवन कृत सांति-परजंक सुभ, सयन बिस्राम श्रीराम राया।
छमा करुना प्रमुख तत्र प्रचारिका, यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥
एहि आरती निरत सनकादि-स्तुति सेप सिव देव ऋषि अखिल मुनि तत्त्वदरसी।
करै सोइ तरै, परिहरै कामादि मल, वदति इति अमलमति दास तुलसी॥

—विनय, ४७

अममलति तुलसीदास की इस आरती को देखकर आशा है बहुतों का वह भ्रम भी दूर हो जायगा जो कभी-कभी श्री रामानन्द के कुछ पदों को देखकर उत्पन्न हो जाता है। रामानन्द भी इस प्रकार की मानस-पूजा के पक्षपाती थें, इसमें सन्देह नहीं और उनकी इसीं मानस-पूजा को लेकर जो हिन्दी का निगु ण सन्त सम्प्रदाय खड़ा हो उठा तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। निगु ण सन्तों की जो योग्यता, रुचि और रुझान थी, उसको देखते हुए और देश-काल की प्रेरणा पर ध्यान रखते हुए यह जान लेना कठिन नहीं कि क्यों हिन्दी का निगु णी-सन्त-सम्प्रदाय

सगुण का कुछ विरोधी होकर चला और क्यों कुछ सूफी सन्तों ने दाशरथि राम का घोर विरोध भी किया। उस समय की इसलामी कट्टरता मूर्ति के विरोध में बहुत कुछ मनमानी कर रही थी और परमार्थ दृष्टि से मूर्ति को बहुत महत्व वैष्णवों में भी कभी नहीं दिया गया था। उसे अर्चावतार के रूप में साधना का अंग माना अवश्य गया था, पर अनिवार्य रूप में नहीं, सहायक के रूप में ही। उसका महत्त्व तभी तक था जब तक मन इष्टदेव में रम नहीं जाता। हाँ, लोक की दृष्टि से बहुत से सिद्ध भी इस साधना में लगे रहते हैं और इसको इसलिये करते रहते हैं कि जन-सामान्य की रुचि इधर हो, अन्यथा तुलसी का पक्ष है यही —

देखु राम-सेवक, सुनु कीरति, रटहि नाम करि गान गाथ।
हृदय आनु धनु-बान-पानि प्रभु, लसे मुनि पट कटि कसे भाथ॥

—विनय, ८४

'विग्रह' के रूप में तुलसीदास बिन्दुमाधव के भक्त थे, यह हम पहले देख चुके हैं। वे कहते हैं —

तुलसिदास भवत्रास मिटै तब, जब मति इहि सरूप अटकै।
नाहित दीन मलीन हीन-सुख कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भटकै॥

—विनयपत्रिका, ६२

'जब मति यहि सरूप अटकै' से प्रकट ही है कि तुलसीदास यहाँ भी स्वरूप में ही मति को लीन करना चाहते हैं, कुछ पूजा-विधान अथवा अर्चामात्र में नहीं। तुलसीदास के इस पद से इतना और भी विदित हो जाता है कि वे वास्तव में यति थे। कारण, यति लोग ही इस विग्रह के प्रमुख उपासक हैं। तुलसीदास किस सम्प्रदाय के यति थे, इसका पता भी इसके पहले के पद से हो जाता है। उसमें कहा गया है—

कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई ।
अलप तड़ित जुग रेख इन्दु महँ रहि तजि चंचलताई ॥

—विनयपत्रिका, ६२

किन्तु कहा जा सकता है कि यह तो विन्दुमाधव के तिलक का वर्णन है, इससे तुलसी के सम्प्रदाय का सीधा बोध कैसे हो सकता है। निवेदन है 'गीतावली' में भी तो तुलसी ने ऐसा ही कुछ कहा है। देखिये—

भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलक-रेख रुचि राजै ।
मनहुँ मदन तम तकि मरकत धनु जुगुल कनक सर साजै ॥

—उत्तर, १२

यह तो तुलसी के विग्रह का रूप हुआ। जिस अवतारी का स्वरूप तुलसीदास के सामने नित्य बना रहता था, उसका शाश्वत रूप सम्भवतः यह है—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥

सरद मयंक बदन छबि सींवाँ । चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ ॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा । बिधु कर निकर बिनिंदक हासा ॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी । चितवनि ललित भावती जी की ॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी । तिलक ललाट पटल दुतिकारी ॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा । कुटिल केस जनु मधुप समाजा ॥
उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला । पदिक हार भूषन मनि जाला ॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ । बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा । कटि निषंग कर सर कोदंडा ॥

तड़ित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि ।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि ॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ।

—बालकाण्ड, १९२

और इसी के साथ ही पूरक के रूप में इतना और भी—

राम भाग सोभित अनुकूला। आदि सक्ति छवि निधि जगमूला।
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

यह तो अवतारी राम का वह रूप हुआ, जो अवतार के रूप में प्रगट हुआ और तुलसीदास के चित्त में बसने के लिये पथिक का बाना, और साथ में अनुज लक्ष्मण को भी, ले लिया। तुलसीदास के इष्टदेव यही पथिक राम हैं। और इसी त्रयी के सम्बन्ध में तुलसीदास का निष्कर्ष है—

राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानकर सुरतरु तुलसी तोर॥
—दोहावली, १६

राम के रूप को तुलसी ने बहुत सराहा है। पर साधना के क्षेत्र में उन्होंने जो महत्त्व राम के नाम को दिया है, वह उनके रूप को नहीं। देखने में तो यह बात कुछ ठीक सी नहीं जँचती कि नाम को राम से अधिक सराहा जाय, किन्तु तुलसी के तर्क और विवेक के सामने सिर झुकाना ही पड़ता है। तुलसीदास ने भाँति-भाँति से इसे सिद्ध कर दिखाया है कि राम का नाम राम से क्योंकर बड़ा माना जाता है। रामचरितमानस में तुलसीदास ने जो कुछ नाम और रूप का सम्बन्ध दिखाया है वह स्थिति को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। कहते हैं—

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु स्रम कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥
—बाल, ३०

इस विचार के साथ ही साखी के रूप में इतना और भी कह देते हैं—

ब्रह्म राम तें नाम बड़ बरदायक बर दानि॥
राम चरित्र सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि॥

किन्तु यह तो सूझ और विश्वास की बात हुई। इसको विवेक का प्रसाद कैसे मान सकते हैं ? निदान तुलसीदास पहले विवेक को ही लेते हैं और खुलकर सिद्ध करते हैं कि इसे प्रत्यक्ष क्यों नहीं देख लेते —

देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने॥
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
नाम-रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥

—वही, २१

इसी दोहरे गुण को लेकर तुलसीदास इतना और भी स्पष्ट करते हैं —

एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें॥

—वही, २८

तुलसीदास ने अपनी समझ से नाम को ब्रह्म और राम, निर्गुण और सगुण, दोनों से बड़ा सिद्ध कर दिया; पर इससे यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि यह राम का नाम ही है, जो सब नामों में श्रेष्ठ है। तुलसीदास ने इसको भी सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। सब तर्कों के साथ ही साथ एक ऐसा भी तर्क उपस्थित किया है जो सबकी समझ में झट से आ जाता है। राम की ध्वनि में क्या भरा है, इसकी अनुभूति सहसा किसी को नहीं हो सकती। पर इसको सभी लोग देख सकते हैं कि लेखन में रकार और मकार की स्थिति क्या होती है —

एक छत्र एक मुकुट मनि सब बरन पर जोउ॥
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ॥

—दोहावली, २५

'र' छत्र है तो 'म' मुकुट-मणि। इनके शासन को कौन नहीं मानता और कौन राम के राजनाम से बाहर जा सकता है? निदान तुलसी की घोषणा है —

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार ॥
तुलसी भीतर बाहेरहु जौं चाहसि उँजियार ॥

ध्यान देने की बात है कि घर के भीतर ज्योति जगाने वाले निर्गुणी सन्तों ने भी राम के नाम को ही लिया है, कुछ कृष्ण के नाम को नहीं। तुलसीदास बाहर और भीतर दोनों को प्रकाशित करने के लिये राम नाम ही को ठीक समझते हैं और संक्षेप में सहज भाव से कह जाते हैं —

हिय निर्गुन नैनन्हि सगुन रसना राम सुनाम ॥
मनहु पुरट सम्पुट लसत तुलसी ललित ललाम ॥

—दोहावली, ७

इसमें भी सगुण के ध्यान में तो लोगों की सरस रुचि रही नहीं और निर्गुण मन में आ नहीं पाता। अतः विवश होकर नाम की शरण में ही जाना पड़ता है। तभी तो तुलसीदास का निश्चित आदेश है —

सगुण ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुण मन तें दूरि ॥
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि ॥

—दोहावली, ८

स्मरण रहे, यह राम नाम की ही विशेषता है कि इससे दोनों पक्ष सफल हो जाते हैं और किसी की क्षति भी नहीं होती। इसकी विशेषता है —

मीठो अरु कठवति भरो रौताई अरु खेम ॥
स्वारथ परमारथ सुलभ राम नाम के प्रेम ॥

—दोहावली, १९

तुलसीदास को इस राम नाम का इतना इष्ट है कि इसके सामने वह किसी अलख को भी विशेष महत्त्व नहीं देते और चिढ़कर किसी अलख लखाने वाले से कहते हैं —

हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच ॥
तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जपु नीच ॥

—दोहावली, १६

सच है, लखना हो तो यह देखना चाहिये कि हम क्या हैं, हमारा क्या है, और हममें और हमारे में यह सम्बन्ध कैसे बना हुआ है, और यदि जपना है तो राम नाम क्यों न जपें। भला जो दिखाई ही नहीं देता उसको देखने का स्वाँग रचना कहाँ का न्याय है? तुलसीदास को सर्वत्र राम नाम का ही प्रसार दिखाई देता है और इसी से सारा घर-बाहर सुखी होता है। उनकी दृष्टि में —

दम्पति रस रसना दसन परिजन बदन सुगेह ॥
तुलसी हरहित बरन सिसु सम्पति सहज सनेह ॥

—दोहावली, २४

इस शिशु में शक्ति भी अपार है। यह कलि-काल को क्षण में दल देता है। देखिये —

राम नाम नर केसरी कनक कसिपु कलि कालु ॥
जापक जन प्रहलाद जिमि पालहि दलि सुर सालु ॥

—दोहावली, २६

फलतः —

राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कन्द ॥
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग-पग परमानन्द ॥

—दोहावली, २७

यही कारण है कि तुलसीदास दृढ़ता से सीख देते हैं —

राम जपु जीह, जानि प्रीति सों प्रतीति मानि,
राम नाम जपे जैहै जिय की जरनि।
राम नाम सों रहनि, राम नाम की कहनि,
कुटिल कलि मल सोक संकट हरनि॥
राम नाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ,
कियो न दुराउ कही आपनी करनि।
भव सागर को सेतु, कासी हूँ सुगति हेतु,
जपत सारद संभु सहित घरनि॥
वालमीकि व्याध हे अगाध अपराध निधि,
मरा मरा जपे पूजे मुनि अमरनि।
रोक्यो बिंध्य, सोख्यो सिंधु घटजहुँ नाम बल,
हार्‌यो हिय, खारो भयो भूसुरन्डरनि॥
नाम महिमा अपार सेप सुक बार बार
मति अनुसार बुध वेद हूँ बरनि।
नाम रति कामधेनु तुलसी को कामतरु
राम नाम है बिमोह तिमिर तरनि॥

—विनयपत्रिका, २४७

और इसी के बल पर अपने राम से भी खुलकर कहते हैं —

राम, रावरो नाम साधु सुरतरु है।
सुमिरे त्रिविध धाम हरत पूरत काम
सकल सुकृत सरसिज को सरु है॥
लाभहू को लाभ सुखहू को सुख सरबस
पतित-पावन डरहू को डरु है॥
नीचे हू को, ऊँचे हू को, रंक हू को राव हू को
सुलभ सुखद आपनो सो घरु है॥

वेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो
नाम-प्रेम चारि फल हू को फरु है।
ऐसे राम-नाम सों न प्रीति न प्रतीति मन,
मेरे जान जानिबो सोई नर खरु है॥
नाम सों न मातु पितु मीत हित बंधु गुरु
साहिब सुधी सुसील-सुधाकरु है।
नाम सों निबाहु नेहु, दीन को दयालु देहु,
दास तुलसी को, बलि, बड़ो वरु है॥

—विनय, २५९

तुलसीदास के अध्ययन में इस साधु-सुरतरु से विशेष सहायता मिल सकती है और कुछ साधु-सज्जन इसके आधार पर बड़े अभिमान से कह भी सकते हैं कि तुलसीदास वस्तुतः साधुमत के पोषक थे, कुछ लोक-मत के पुजारी नहीं। सम्भव है, ऐसे महानुभावों की धारणा ही सत्य हो, परन्तु देखना तो यहाँ यह है कि तुलसीदास ने जो बार-बार लोक-मङ्गल का नाम लिया है उसका रहस्य क्या है और क्यों उन्होंने बार-बार पथिक राम को ही अपना इष्ट बनाया है, कुछ तटस्थ राम को नहीं। तुलसीदास के किसी भी ग्रन्थ का अवलोकन कीजिये, आपको स्वयं अवगत होगा कि तुलसीदास ने कहीं उसमें 'साधु' को लिया है, और कहीं 'विप्र' को और 'चरित' तो सर्वत्र है ही। तात्पर्य यह कि तुलसीदास ने 'चरित', 'विप्र' और 'सन्त' को ही सराहा है और इन्हीं के द्वारा लोक तथा परलोक दोनों को ही साधा है। यह सच है कि तुलसीदास ने सन्त को विशेष महत्व दिया है, किन्तु सन्त की जो कसौटी उन्होंने दी है वह लोक से उदासीन आत्मारामी मनमौजी सन्त की नहीं है। वह तो उसी सन्त की कसौटी है जो राम के चरित को अपना चरित बनाता और उनके शील, स्वभाव तथा गुण को अपनाकर अपने को लोक-हित में लीन

कर देता है। स्मरण रहे, सन्त की 'रहनि' के सम्बन्ध में उनकी कामना यह है —

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देहजनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि-पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो॥

—विनय, १७२

इस पद में जो निरन्तर पर-हित की कामना की गई है वह लोक-हित नहीं, तो और क्या है? विचारने की बात है कि स्वयं राम ने अपने श्रीमुख से जो सन्त-गुण नारद जैसे परम भक्त से कहे हैं उनमें भी विप्र-पद-प्रेम और परहित का स्पष्ट निर्देश है। देखिये और सचेत हो सुनिये —

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह तें मैं उनके बस रहऊँ॥
षट-विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित-बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥

गुनागार-संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदित मम पद प्रीति अमाया॥

विरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना ॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊँ ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रत सीला ॥
मुनि सुनु साधुन के गुन जेते। कहि न सकैं सारद स्रुति तेते ॥

—अरण्य, ४०

साधुओं के असंख्य गुण हैं, किन्तु यदि उनमें 'परहित' नहीं तो कुछ भी नहीं। कारण कि स्वयं राम की स्पष्ट घोषणा है—

परहित सरिस धरम नहि भाई। परपीडा सम नहीं अधमाई।
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहि कोबिद नर।

—उत्तर, ४१

सारांश यह कि जिसमें लोकहित नहीं वह साधु नहीं और चाहे जो हो। निदान मानना ही होगा कि तुलसी का साधु-मत सचमुच लोक-हित का प्रतिपादक है, कुछ उसका विरोधी नहीं।

मङ्गल-विधान

तुलसी के सन्त मत को ठीक ठीक न समझने के कारण बहुत से लोग भाँति भाँति की कल्पना किया करते हैं और उनपर दोषारोपण भी कुछ कम नहीं करते। तुलसी का सन्त-मत लोक-मत और लोक-हित का प्रतिपादक है और इसी से तुलसी ने सुग्रीव और विभीषण का सत्कार किया है, कभी उनको देशद्रोही के रूप में नहीं देखा है; किन्तु भायप का प्रतीक उन्हें नहीं माना, और इसके अभाव में उनको लज्जित भी कराया है। कदाचित् यही कारण है कि जब सुग्रीव और

विभीषण भरत और राम को मिलते देखते हैं तब अपनी करनी से लज्जित होते और कुछ ग्लानि में गड़ से भी जाते हैं। विचार करने की बात यह। यह है कि क्या सुग्रीव और विभीषण राज्य के लोभ में पड़ कर ही राम की शरण में गये थे ? क्या वस्तुतः वे राजा बनना चाहते थे ? प्रत्यक्ष है कि उनके हृदय में यह भावना कदापि न थी। सुग्रीव और बालि का संग्राम व्यक्तियों का संग्राम था। बालि ने अपना जो आतंक जमा लिया था और उसने अपने बल के दर्प में आकर जो सुग्रीव का 'सर्वस अरु नारी' तक छीन लिया था, उसमें प्रजा का कोई हाथ न था। प्रजा तो उसके प्रतिकूल ही थी। नहिं ऐसा न होता तो सुग्रीव के साथ अन्य वानर भी न दिखाई देते और बालि के वध पर कोई न कोई कोलाहल भी अवश्य होता। पर ऐसा नहीं हुआ। यही बात रावण के विषय में भी कही जा सकती है। रावण ने राम से जो युद्ध ठाना था, वह देशहित अथवा जाति के कल्याण के विचार से नहीं और फलतः राम ने उस पर जो चढ़ाई की थी सो भी राज्य की प्राप्ति के लिये नहीं। राम और रावण का संघर्ष पुण्य और पाप का संघर्ष था। राजा और राजा अथवा देश और देश का द्वन्द्व कदापि नहीं। यही कारण है कि रावण के पक्ष में मेघनाद के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं दिखाई देता जो सच्चे हृदय से उसका साथ देता हो। रावण अपनी स्थिति को जानता है। कुंभकर्ण जैसे वीर भाई से भी किसी प्रकार की मंत्रणा नहीं करता। किसी से कुछ पूछता भी है तो इसी दृष्टि से कि उसकी हाँ में हाँ मिल जाय। तात्पर्य यह कि रावण का विरोध देश और जाति का विरोध नहीं, अत्याचार का विरोध है। तुलसीदास ने इसी से बालि-वध और रावण-वध को लोक-हित के रूप में ही लिया है और इस लोक-हित को सन्त-मत का मुख्य अंग समझा है। राम ने

रीछों और वानरों को जो अन्तिम चेतावनी दी है, वह है —

अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ नेम ।
सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम ॥

इसमें जो 'सर्वगत' के साथ 'सर्वहित' की बात कही गई है वही तुलसीदास को इष्ट है । यह 'सर्वहित' जैसे सम्पन्न हो वही सबका कर्तव्य है और है वही तुलसी का सच्चा साधुमत भी ।

तुलसीदास की दृष्टि में सन्त के हृदय में द्रोह नहीं होना चाहिये । उनके समय में वेपधारी सन्तों में जो द्विज-द्रोह प्रबल रूप में चल रहा था, उसको लक्ष्य में रखकर तुलसीदास ने अपने सम्बन्ध में स्वयं कहा है —

बिप्र-द्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सबसों बैर बढ़ावौं ।
ताहू पर निज मति बिलास सब सन्तन माँझ गनावौं ॥

—विनय, १४२

तुलसी की दृष्टि में सन्त का विप्र से विरोध नहीं हो सकता। कारण कि दोनों की दृष्टि समाज में लोक-हित की ही होती है । विप्र श्रुति के आधार पर लोक-हित में लीन होता है, तो सन्त अपनी अनुभूति के बल पर समाज में लोक-मङ्गल का विधान करता है । किन्तु इसी से सन्त के लिये सबसे बड़ी बात है माया से उसका सतत सतर्क रहना । कारण, उसनें माया का लेश आया भी नहीं कि उसका सहसा पतन हुआ और उसकी सारी अनुभूति किसी काम की न ठहरी । और हाँ, माया का पूरा प्रसार दिखाई देता है प्रमदा में, कनक और कामिनी में । अतः प्रमदा से सन्त को सदा सावधान रहना चाहिये और कनक से बचना चाहिये ।

हाँ, काम और क्रोध, इन दो शत्रुओं से सन्त का विनाश होता है । तुलसीदास ने काम पर नारद की विजय दिखाई है और क्रोध पर कागभुसुंडि का । नारद सब सेपहले कामजयी के

रूप में सामने आते हैं, पर 'लोकमान्यता' के नाते में पड़ कर पक्के विपक्षी के रूप में विश्व-मोहिनी के स्वयंवर में उतरते हैं और अपना अच्छा वानरी कौतुक दिखाते हैं। राम के प्रसाद से जब उनके हृदय से 'हे विधि मिलै कवन विधि बाला' की भावना निकल जाती है और जब स्वयं राम उन्हें सीता के वियोग में दुखी दिखाई देते हैं, तब उनके पास पहुँचते और अच्छा अवसर हाथ लगा देख कर उनसे प्रश्न करते हैं —

तब बिबाह मैं चाहौं कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा।

राम ने पहले तो ज्ञानी और भक्त का भेद बताया और फिर कहा —

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि।

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषै सब नारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरष प्रद बरषा एका॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहै सुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥
बुधि बलु सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन, मुनि मैं येह जिय जानि॥

—अरण्य, ३८

सन्त को विवाह के फेर में क्यों नहीं पड़ना चाहिये, इसका तुलसी की ओर से यही समाधान है; किन्तु सन्त की दृष्टि में राम को किस प्रकार रमा रहना चाहिये अथवा सन्त के हृदय में राम

से कैसा नेह होना चाहिये, इसको तुलसीदास ने अन्यत्र स्पष्ट किया है। कहते हैं —

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

—उत्तर, १३०

इसमें जो भाव व्यक्त किया गया है वही 'विनय-पत्रिका' के 'ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को' में भी व्यक्त हुआ है और उसके द्वारा इसको और भी पुष्ट किया गया है। सारांश यह कि तुलसीदास ने इस वासना को निर्मूल करने की शिक्षा नहीं दी है, प्रत्युत इसको राममय बनाने का आदेश दिया है। सन्त यदि इस वासना के चक्कर में पड़ गया और स्त्री को इसके विपरीत 'सब दुखखानि' के रूप में नहीं देखा और 'प्रमदा सब सुखखानि' को सत्य मान उसको ही अपना मूल मन्त्र बना लिया तो इससे न तो उसका उद्धार हुआ और न लोक-कल्याण ही। अस्तु, सन्त को तो स्त्री को सदा इसी रूप में अपने मन की आँख से देखना चाहिये और सदा उसके रूप-रङ्ग से सतर्क रहना चाहिये। इसके लिये तुलसीदास की चेतावनी भी है —

दीप सिखा सम जुबति तनु मन जनि होसि पतंग।
भजहि रामु तजि कामु मदु करहि सदा सतसंग॥

—अरण्य, ४०

क्रोध पर विजय उस समय दिखाई देती है जब लोमश ऋषि क्रोध में आकर कागभुसुंडि को शाप देते हैं, पर काग इससे तनिक भी विचलित नहीं होते और अपने उसी रूप को शिरोधार्य कर लेते हैं। अवश्य यह भक्ति का प्रसाद है, ज्ञान का प्रताप नहीं। तो भी हम देखते हैं कि नारी के प्रति कागभुसुंडि की धारणा यह है —

भ्राता पिता पुत्र उरगारी । पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी । जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी ॥

—अरण्य, ११

इस प्रसंग में ध्यान देने लायक बात यह है कि कागभुसुंडि ने गरुड से जो सिद्धान्त की बात कही है वह स्त्री जाति के प्रति अनुदार कही जाती है, पर ध्यान से देखा जाय तो सूपनखा के प्रति वही उदार कही जायगी। क्योंकि यही यदि स्त्री की प्रकृति है तो इससे सूपनखा का दोष कुछ कम अवश्य हो जाता है। कम क्या, वह दोष ही नहीं रह जाता। यदि स्त्री की प्रकृति ही ऐसी है कि वह मनोहर पुरुष को देखती है और इस देखने में भ्राता और पुत्र तक का विचार नहीं करती, तो सूपनखा ने यदि राम और लक्ष्मण जैसे अनुपम काम-कुमारों को इस दृष्टि से देखा तो इसमें उसका अपराध ही क्या? तुलसीदास ने 'होइ बिकल सक मनहिं न रोकी' में मन की जिस गति का संकेत किया है वह और भी खुल जाती है 'जिमि रबि मनि द्रव रविहि विलोकी' के अप्रस्तुत से। जिसकी जो प्रकृति है वही होकर रहती है। तुलसीदास ने 'स्त्री-द्रव' को 'रविमणि द्रव' के रूप में दिखाकर स्थिति को श्लील बनाया है, कुछ अश्लील नहीं। स्त्री और पुरुष की प्रकृति में भ्राता, पिता, पुत्र आदि का कोई सहजात भेद नहीं। यह तो संस्कृति का परिणाम है जो भिन्न-भिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न रूप से विद्यमान है। वैसे मानव-प्रकृति भी तो वैसी ही है जैसी कि कही गई है, किन्तु निवृत्ति में ही लोक का कल्याण है। अतएव यदि सूपनखा की निवृत्ति भी इससे हो जाती तो आगे का कांड भी न मचता और उसके नाक-कान भी बचे रहते।

हाँ, तो लोक-हित में निरत सन्त को जहाँ स्त्री से बचना पड़ता है वहीं विप्र को शूद्र का उचित ध्यान भी रखना पड़ता

है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में विप्र को बहुत महत्व दिया है। यहाँ तक कि स्वयं राम का कहना है —

सुनु गंधर्व कहौं मैं तोही। मोहि न सोहाइ बिप्र कुल द्रोही ॥

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव ॥

सापत ताडत परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना ॥

—अरण्य,-२७-२८

राम ने यहाँ विप्र के प्रति जो पूज्य भाव दिखाया है उसका कारण क्या है ? और क्यों उन्होंने शूद्र की ऐसी अवहेलना की है ? जो स्वयं राम-चरित पर ध्यान देते हैं तो अवगत होता है कि विप्र परशुराम के प्रति उन्होंने जो आदर का भाव दिखाया वह इस

सापत ताडत परुष कहंता, बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।

का परिणाम कहा जा सकता है। परन्तु निषाद के प्रति उनका जो व्यवहार रहा है वह अनादर अथवा अवहेलना का भाव तो कदापि नहीं कहा जा सकता। यदि ध्यान से देखा जाय तो यह आप ही स्फुट हो जाता है कि तुलसीदास ने परशुराम की जो अवहेलना लक्ष्मण के द्वारा रामचरितमानस में कराई है उसका एकमात्र कारण है परशुराम की उग्रता अथवा उनका क्रोध को खोल दिखाना। यहाँ तक कि इसी पूज्य द्विज को लक्ष्मण यहाँ तक डाट जाते हैं कि सभी लोगों को 'अनुचित, अनुचित' कहना पड़ता है। 'द्विज देवता घरहिं के बाढ़े' में द्विज का जो उपहास किया गया है उसी को मिटाने और स्थिति को स्पष्ट करने के लिये राम ने पहले तो परशुराम से 'चहिय विप्र उर कृपा घनेरी' का संकेत किया और फिर स्पष्ट कहा —

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ ।
तौ अस को जग सुभट जेहि भयबस नावहिं माथ ॥
—बाल, २८

अच्छा, तो विप्र की प्रभुता का परिणाम है अभय ? र
स्वयं ही तो कहते हैं—

विप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥
—बाल,२८६

विप्र के साथ भय का जो विधान किया गया है, वह विचार-
... है। विप्र को तप का बल होता है। 'तप-बल विप्र सदा
बरिआरा' में जिस तप को लिया गया है वह तप ही ब्राह्मण
को श्रेष्ठ बनाता है और उसमें शाप की शक्ति ला देता है,
जिसके कारण वह किसी के कुल का नाश सहज में ही कर
सकता है। 'जिमि द्विज-द्रोह किए कुल नासा' में इसी का उद्घोष
किया गया है; किन्तु इस कोप के कारण अथवा शाप के
भय से विप्र पूजनीय नहीं होता, उसकी विशेषता है मोह से
उत्पन्न संशय को दूर करना। इसी से तुलसीदास —
... प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संशय सब हरना ॥
... का नाम लेते हैं और वसिष्ठ के द्वारा इस कार्य का सम्पादन
... भी भली भाँति करा देते हैं। विप्र में यह शक्ति तभी आ
सकती है जब वह क्षमाशील और कृपालु हो। तुलसी ने विप्र
के ... गुण को भली भाँति खोल कर दिखाया है शूद्र हरिभक्त
के प्रसंग में। कागभुसुंडि ने अपने गत जीवन की जो कथा
... है उसमें विप्र की क्षमा तो है ही, कृपा की भावना भी
... है। ... का विरोध देखकर जब खल को दैवी दंड
दिया जाता है तब विप्र उसकी विपदा को देख कर कलप उठता
है और पिघल कर भगवान से यही प्रार्थना करता है कि —

तव माया बस जीव जड़ संतत फिरै भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु कृपा सिंधु भगवान॥

—उत्तर, १०८

विप्र के इसी शील का परिणाम है कि शंकर की अब यह घोषणा होती है—

सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरि-तोषन व्रत द्विज-सेवकाई॥
अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना॥
इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। विप्र द्रोह पावक सो जरई॥

—उत्तर, १०६

द्विज-द्रोह का परिणाम दुःखद होता है यही रामचरित-मानस का पक्ष है, द्विज-द्रोह नहीं होना चाहिये यही तुलसी का आदेश है; किन्तु द्विज को भी अपने आप क्रोध न कर सब को कृपा का ही परिचय देना चाहिये, यही तुलसी का इष्ट मत है। सन्त की भाँति विप्र में समता का भाव भले ही न हो, पर क्षमा का भाव तो उसमें होना ही चाहिये। यदि उसमें क्षमा और शील नहीं है तो वह लोक-मङ्गल का विधान नहीं कर सकता—शाप से किसी का नाश भले ही कर ले।

राम ने विप्र की जहाँ प्रशंसा की है वहीं शूद्र का भी उल्लेख किया है। विप्र और शूद्र वर्णव्यवस्था अथवा 'व्यवहार' के जीव हैं। व्यवहार में मर्यादा की उपेक्षा हो नहीं सकती। इस मर्यादा की अवहेलना के कारण शूद्र को जो दंड मिला उसका उल्लेख पहले हो चुका है। यहाँ बताया यह जाता है कि वस्तुतः तुलसी की दृष्टि में विप्र और शूद्र का सम्बन्ध क्या है। तुलसी ने विप्र का प्रतीक वसिष्ठ को बनाया है और शूद्र का प्रतीक निषाद को। पहले निषाद जब दूर से प्रणाम करता है तब वसिष्ठ लपक कर उसे हृदय से लगाते नहीं, अपितु भरत से इतना ही

तव माया बस जीव जड़ संतत फिरै भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु कृपा सिंधु भगवान॥

—उत्तर, १०८

विप्र के इसी शील का परिणाम है कि शंकर की अब यह घोषणा होती है—

सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरि-तोषन ब्रत द्विज-सेवकाई॥
अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना॥
इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र द्रोह पावक सो जरई॥

—उत्तर, १०६

द्विज-द्रोह का परिणाम दुःखद होता है यही रामचरित-मानस का पक्ष है, द्विज-द्रोह नहीं होना चाहिये यही तुलसी का आदेश है; किन्तु द्विज को भी अपने आप क्रोध न कर सब को कृपा का ही परिचय देना चाहिये, यही तुलसी का इष्ट मत है। सन्त की भाँति विप्र में समता का भाव भले ही न हो, पर क्षमा का भाव तो उसमें होना ही चाहिये। यदि उसमें क्षमा और शील नहीं है तो वह लोक-मङ्गल का विधान नहीं कर सकता—शाप से किसी का नाश भले ही कर ले।

राम ने विप्र की जहाँ प्रशंसा की है वहीं शूद्र का भी उल्लेख किया है। विप्र और शूद्र वर्णव्यवस्था अथवा 'व्यवहार' के जीव हैं। व्यवहार में मर्यादा की उपेक्षा हो नहीं सकती। इस मर्यादा की अवहेलना के कारण शूद्र को जो दंड मिला उसका उल्लेख पहले हो चुका है। यहाँ बताया यह जाता है कि वस्तुतः तुलसी की दृष्टि में विप्र और शूद्र का सम्बन्ध क्या है। तुलसी ने विप्र का प्रतीक वसिष्ठ को बनाया है और शूद्र का प्रतीक निषाद को। पहले निषाद जब दूर से प्रणाम करता है तब वसिष्ठ लपक कर उसे हृदय से लगाते नहीं, अपितु भरत से इतना ही

यह होता है कि तुलसी सा स्त्री और शूद्र का द्रोही दूसरा कोई कवि नहीं हुआ, किन्तु यदि प्रसंग पर विचार किया जाय तो आप ही प्रकट हो जाता है कि तुलसीदास ने यहाँ 'भय बिनु होइ न प्रीति' का प्रतिपादन भर किया है और समुद्र ने विप्र के रूप में इस नीति का उत्कर्ष भर दिखाया है। वह कहता है —

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए॥
प्रभु आयसु जेहि कहँ जसि अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥
प्रभु भल कीन्ह मोहिं सिख दीन्हीं। मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्हीं॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥

—सुन्दर. ५६

तुलसीदास 'ताड़ना' को ठीक समझते हैं और यह बताना चाहते हैं कि जब प्रकृति स्वयं जड है, तब उसमें कोई ऐसा पात्र नहीं जो ताड़ना का अधिकारी न हो। सृष्टि के निर्वाह और उसके मङ्गल के हेतु 'ताड़ना' का विधान करना ही पड़ता है। ताड़ना के बिना सृष्टि का कार्य सुचारु रूप से चल नहीं सकता। यही तुलसी का इष्ट-मन्त्र है और इसी का इसमें आदेश भी। इसे स्त्री और शूद्र का घातक समझना भूल है। 'सकल' पर ध्यान दें तो तुलसी की कला का मुँह खुले। अन्यथा आपकी इच्छा।

हाँ, तो तुलसी ने व्यक्तिगत रूप में सन्त और विप्र को लिया है, किन्तु उनके द्वारा लोक-कल्याण तब तक नहीं हो सकता जब तक शासन का पूरा सहयोग समष्टि रूप में प्राप्त न हो। तुलसीदास ने कलियुग का वर्णन जो जमकर किया है उससे उनकी निराशा प्रकट होती है। कलि के सन्त, विप्र और शासक सभी अपनी-अपनी कर रहे हैं। देखिये —

मालो भानु किसानु सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भाग-बस होंहिगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल ॥ २०७ ॥

फिर भी उन्होंने रामचरित के द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया कि वस्तुतः राजा को कैसा होना चाहिये। रामचरितमानस तथा विनय-पत्रिका अपने दोनों ही अनुपम ग्रन्थों में तुलसीदास ने इस राम-राज्य को बड़े भाव से खोल कर दिखा दिया है और अपने राम के द्वारा भरत को चित्रकूट में जो उपदेश दिलाया है वह भी इसी राम-राज्य का द्योतक है। राम अन्त में भरत को सावधान करते हुए किस भावना से कहते हैं —

मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु ॥
पितु आयसु पालिहि दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई ॥
गुरु पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहु कुमग पग परहिं न खालें ॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भर जाई ॥
देसु कोसु पुरजन परिवारू। गुर पद रजहिं लाग छरु भारू ॥
तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी ॥

सुखिया मुख सों चाहिये, खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक ॥

—अयोध्या, ३१५

सच पूछिये तो तुलसीदास ने इसी एक दोहे में सब कुछ कह दिया है—राजा और प्रजा में मुख और अंग का सम्बन्ध होना चाहिये; किन्तु यह तभी हो सकता है जब मुख भी उसी शरीर का अंग हो जिस पर उसका शासन हो, अन्यथा यह कदापि नहीं सकता। 'पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी' में पृथ्वी, प्रजा, और राजधानी के पालन की जो बात कही गई है वह तभी ठीक उतर सकती है जब मुनि, माता और मन्त्री की बात पर ध्यान दिया

जाय। मनमानी करने से 'देस-कोस-पुरजन परिवारू' का कल्याण नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय की भीषण दरिद्रता का जो रूप उपस्थित किया है उसको वे लोग भली-भाँति नहीं समझ सकते जो मुगल-शासन की चमक-दमक में ही अन्धे हो रहे हैं। अरे! सच्ची बात तो यह है कि उस समय की वस्तु-स्थिति यह थी कि सचमुच राजा प्रजा को खाकर ही पुष्ट होता था और उसके रक्त की लालिमा ही जहाँ तहाँ उसके लाल किलों और महलों में फूट निकलती थी। भूलिये नहीं, उसी समय के एक डच यात्री किंवा व्यापारी का कहना है —

यदि किसानों को निर्दयता और क्रूरता के साथ कुचला न जाय तो यहाँ प्रचुर मात्रा में ही नहीं असाधारण रूप में उपज हो सकती है। क्योंकि वे गाँव जो उपज की कमी के कारण पूरी मात्रा में कर नहीं दे पाते, स्वामिवर्ग अथवा शासकों के द्वारा एक प्रकार से बिक्री की सामग्री बना लिये जाते हैं। और विद्रोह का बहाना रच कर उनकी स्त्रियाँ तथा बच्चे बेच दिये जाते हैं। परिणाम यह होता है कि खेत खाली पड़ जाते तथा न बोये जाने के कारण जंगली बन जाते हैं। इस देश में ऐसा उत्पीड़न बहुत ही प्रचलित है।*

---

*The land would give a plentiful, or even an extraordinary yield, if the peasants were not so cruelly and pitilessly oppressed; for villages which, owing to some small shortage of produce, are unable to pay the full amount of the revenue-farm, are made prize, so to speak, by their masters or governors, and wives and children sold, on the pretext of a charge of rebellion, and consequently the fields lie empty and unsown and grow into wildernesses. Such oppression is exceedingly prevalent in this country.

Jahangirs' India, W. H. Moreland. Cambridge, W. Hefcer & Sons, 1925.

जहाँगीर के शासन की जो व्यवस्था कही गई है, उसका भाव यह है कि तुलसीदास ने जो 'भूमिचोर भूप भये' कहा है वह सूत्र रूप में स्थिति को सुस्पष्ट करने के लिये ही। तुलसीदास ने यह भली भाँति देख लिया था कि इस प्रकार के भूपों से लोक-मङ्गल का विधान किसी प्रकार नहीं हो सकता, अतएव इनसे दूर रहकर उन्होंने प्रजा को राम-मय बनाने का सङ्कल्प किया और राजा राम का वह रूप उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया जो निरा राजा ही नहीं, अपितु 'बानर का चरवाहा' भी था और रामचरितमानस के अन्त में और दृढ विश्वास के साथ दृढता के साथ घोषणा भी कर दी —

> श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये।
> ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥

काल इस बात का प्रमाण है कि तुलसी अपने अनुष्ठान में असफल नहीं रहे और भूखी जनता को रामरसायन पिलाकर ऐसा परिपुष्ट किया और उसको लाकर उस भाव-भूमि पर खड़ा कर दिया जिस पर वह आज भी उसी अचल रूप में खड़ी है और उसकी चोरी आज भी कोई भूप नहीं कर सकता।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय के शासन की जो आलोचना की है वह उसकी भोग-लिप्सा के कारण ही, कुछ धर्म अथवा यमन होने के कारण नहीं। स्मरण रहे, इसी भोग-वृत्ति के कारण उन्होंने देवताओं का भी बहुत ही उपहास किया है और बड़ी ही दृढता से कहा है—

> बलि मिस देखे देवता कर मिस मानव देव।
> मुए मार सुविचार-हत स्वारथ-साधन एव॥

—दोहावली, २४६

एक दूसरे दोहे में उन्होंने इसको इस प्रकार आड़े हाथों लिया है —

बड़े विबुध दरबार तें भूमि-भूप दरबार।
जापक पूजक पेखियत सहत निरादर-भार ॥

—दोहावली, ३६३

कहने का तात्पर्य यह कि तुलसीदास ने देवता तथा राजा दोनों की ओर से निराश होकर जन-समाज के कल्याण का मार्ग निकाला है और उसको इधर-उधर की पूजा से निकाल कर राम-भक्ति की 'राजडगर' पर चलने का आदेश दिया है। इसी से तुलसीदास को यह बहुत खटकता है कि लोग इधर-उधर के प्रलोभनों में पड़कर बहराइच क्यों जाते हैं अथवा क्यों जल में खड़े होकर गङ्गा-पुत्रों को दान ही देते हैं। देखिये, इसी से तो कितना कुढ़कर कहते हैं —

लही आँख कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय ॥

—दोहावली, ४६६

किन्तु यह कुढ़न गङ्गापुत्रों पर वैसी नहीं रह जाती। इसकी व्यञ्जना भी परिस्थिति के साथ ही गूढ़ हो जाती है, पर उपेक्षा उनकी भी खूब होती है। कहते हैं—

तुलसी दान जो देत हैं जल में हाथ उठाय।
प्रतिग्राही जीवे नहीं, दाता नरकै जाय ॥

—दोहावली, ५३३

सारांश यह कि सभी प्रकार से तुलसीदास ने जनता को सचेत कर सुशील, सुखी और सन्तोषी बनाने का प्रयत्न किया है और इसमें सफलता भी उनको सच्ची मिली है। तुलसी को जीव के कल्याण की कितनी चिन्ता थी, इसे संक्षेप में जानना हो तो इतना

अवश्य टाँक लें कि तुलसी के सुमन्त जब राजा दशरथ से मिलते हैं तब 'जय जीव' कह करके ही उनका अभिवादन करते हैं। बस, तुलसीदास भी इसी 'जय-जीव' के विधायक हैं। उनका सचिव उनके राजा से यही कहता है—

देखि सचिव जय जीव कहि, कीन्हेहु दंड प्रनामु।
सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति, कहु सुमंत्र कहँ रामु॥

—अयोध्या, १४८

किन्तु जीव का कल्याण तभी होगा जब राजा इस सन्देश पर ध्यान दे—

कहब सँदेसु भरत के आए। नीति न तजिअ राजपद पाए॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेयेहु मातु सकल सम जानी॥
अउर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥

—अयोध्या, १५२

और प्रजा भी सब प्रकार से उसके अनुशासन में लीन रहे। संक्षेप यह कि—

सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि, सुकबि सराहहिं सोइ॥

—अयोध्या, ३०६

काव्य-दृष्टि

तुलसीदास ने काव्य-मीमांसा में कुछ नहीं लिखा। उन्होंने कोई 'प्रकाश' या 'दर्पण' भी नहीं रचा, किन्तु संक्षेप में, सूत्र रूप से 'मानस' में जो कुछ कह दिया वह उनकी परख को पर्याप्त है और पुकार कर कहता है कि तुलसी की दृष्टि में कविता का स्वरूप क्या है। तुलसीदास ने 'वस्तु' पर विशेष ध्यान दिया है और काव्य को बहुत ही पुण्य दृष्टि से देखा है।

उनकी दृष्टि में—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई । लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं । उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं ॥
भगति हेतु बिधि भवन बिहाई । सुमिरत सारद आवति धाई ॥
रामचरित सर बिनु अन्हवायें । सो स्रम जाइ न कोटि उपायें ॥
कवि कोविद अस हृदय बिचारी । गावहिं हरि जस कलिमल हारी ॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ॥
हृदय सिन्धु मति सीपि समाना । स्वाती सारद कहहिं सुजाना ॥
जौं बरखै बर बारि बिचारू । होहिं कबित मुकुता मनि चारू ॥

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, राम चरित बर ताग ।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग ॥

तुलसी का यह पक्ष बहुतों को भा नहीं सकता, परन्तु मानना तो सबको होगा ही कि वस्तुतः काव्य की स्थिति है यही। गोस्वामी तुलसीदास के 'स्वान्तःसुखाय' की ओट में आज कवि-समाज में क्या क्या नहीं किया जा रहा है ? किन्तु खेद तो यह है कि इस 'स्वान्तः सुखाय' के लोगों ने 'स्वसुखाय' समझ लिया है और बना लिया है इसे 'स्वशरीराय'। तुलसी कहते हैं कि कविता जहाँ उपजती है वहाँ छबि नहीं पाती। छवि तो उसे समाज में मिलती है। अतः उसको ऐसा होना ही चाहिये जिससे वह समाज में खिल सके। कविता जोड़-जाड़ कर नहीं बनती, वह तो हृदय से उमड़ कर बाहर निकलती और अपने वेग से लोक में फैल जाती है। उसका विषय यदि ठीक नहीं हुआ, उसका सन्दर्भ यदि लोक-हितकारी नहीं रहा, तो वह नष्ट गई, भ्रष्ट हुई और कवि की वाणी का सर्वथा दुरुपयोग हुआ। तुलसीदास ने 'प्राकृत जन' की अवहेलना नहीं की है।

नहीं, उन्होंने तो प्राकृत जन के गुण-गान को अच्छा नहीं माना है। प्राकृतजन को काव्य का आदर्श नहीं ठहराया है। तुलसीदास ने शारदा को स्वाती कहा है। 'स्वाति-नक्षत्र' के जल में बड़ा गुण है। सीप में पड़कर वह मोती बन जाता है, परन्तु साँप के मुँह में पड़कर वही विष का रूप धारण कर लेता है। तुलसीदास साँप का नाम नहीं लेते, केवल सीप की बात करते हैं और कहते हैं कि जब बुद्धि में श्रेष्ठ विचार का उदय होगा तभी श्रेष्ठ कविता का जन्म होगा, अन्यथा कदापि नहीं। किन्तु कविता भी कंठहार तभी बन सकती है जब उसको युक्ति से गुथा जाय और उसमें राम-चरित का सूत्र आदि से अन्त तक रमा हो, अन्यथा उससे सज्जनों के हृदय की शोभा नहीं होगी, फिर चाहे वह जिस तिस के गले का हार हो।

गोस्वामी तुलसीदास ने युक्ति अर्थात् कला को भी सराहा है, किन्तु काव्य की मूल प्रेरणा को कवि-कृत नहीं, प्रभु-कृत ही माना है—

> सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी।
> जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥
>
> —बाल, ११०

सच है, राम-कृपा से ही कवि को वाणी का प्रसाद प्राप्त होता है, किन्तु इस शक्ति का सदुपयोग उसके अपने हाथ में ही होता है। इसी से तुलसीदास और भी कहते हैं—

> अस मानस मानस चष चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही॥
> भयउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
> चली सुभग कविता सरिता सी। रामबिमल जस जल भरिता सी॥
>
> —बाल, ४४

तुलसी ने यहाँ भी कविता की परिक्रिया पर विचार किया है और बताया है कि वह किस प्रकार मन, बुद्धि, हृदय और

उल्लास से सम्बन्ध रखती है और किस पुण्य-यश से आप्लावित होकर सर्व सुखद बन जाती है। तुलसी ने 'शंभु-प्रसाद' और 'हरि-प्रेरणा' को ही सब कुछ नहीं मान लिया है। उसके साथ ही साथ उन्होंने संयम, निष्ठा और ध्येय पर भी ध्यान दिया है। तुलसी भाषा को विशेष महत्व नहीं देते और जो महत्व देते हैं तो भाव, विचार, वस्तु तथा लक्ष्य को ही। उनकी धारणा है कि वस्तु और उद्देश्य तो सदा उत्तम होना ही चाहिये फिर भाषा चाहे गँवारी ही क्यों न हो। जब वस्तु भली है तो भाव भी भला ही होगा, जब उद्देश्य अच्छा है तो भाव भी अच्छा ही होगा। इसी से तुलसी कहते हैं—

भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। राम-कथा जग मंगल करनी।

—वही, १५

और इसी से उनको ध्रुव विश्वास भी है कि—

प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनिति राम जस संग।
दारु विचार कि करइ कोउ, बंदिय मलय प्रसंग॥
स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

—बाल, १५

तुलसी ने भाषा से भाव को अधिक सराहा है और भाव से अधिक भक्ति को। कदाचित्त यही कारण है कि आपने वाल्मीकि की वंदना में लिख दिया है—

बंदौं मुनि पद कंज, रामायन जेहिं निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित॥

—बाल, १४

यहाँ 'दूषन सहित' में जो दोष देखा गया है, वह यही है कि इसमें भाषा और भाव तो अपूर्व हैं, पर वह भक्ति नहीं जो भगवान् से भट मिला दे। भक्ति के कारण तुलसीदास की इस

अनूठी रचना में जो रस आ गया है वह सर्व-सुलभ नहीं, सच्चे राम-भक्त अधिकारी को ही प्राप्त है। यही कारण है कि राम-चरितमानस की कविता की सहज गति में यह भक्ति बहुतों को खटक जाती है और तुलसी का यह विधान उनको भली भाँति भा नहीं पाता। भूलना न होगा कि तुलसीदास ने सर्वत्र इस भक्ति-भावना का विधान किया है और राम के शील, स्वभाव और गुण का गान राम में रमाने के हेतु ही किया है। बीच बीच में यत्र तत्र उपदेश भी देते भी रहे हैं। यहाँ तक कि वहाँ भी जहाँ राम का सामान्य जन जीवन अंकित हुआ है और जिसमें कोई ऐसी अलौकिकता नहीं आई है, जिससे लोगों को उनके पर रूप में कोई सन्देह वा भ्रम हो। तुलसी ने आगे चल कर 'विनय-पत्रिका' में इस 'उपदेसिबे की बानि' को छोड़ने का संकल्प किया है, 'मानस' में नहीं। 'मानस' में मन को रमाना ही नहीं, उसके द्वारा जीवन को स्वच्छ बनाना भी तो है! तो उपदेश की उपेक्षा हो कैसे सकती है?

तुलसीदास ने 'ग्राम्य गिरा' में रचना की है, किन्तु उसे ग्राम्य दोष से सर्वथा मुक्त रखा है। उन्होंने संस्कृत के द्रोह के कारण भंदेस बानी को नहीं चुना था। नहीं, उनको तो इस बात का बोध था कि ग्रामीण भी इस गिरा को आदर की दृष्टि से देखते और इसी में अपने हृदय तथा जीवन को पाते हैं। अतः उन्होंने इसी भाषा में रचना की, जो सब की मनभावती नहीं, परम्परागत भाषा भी थी और थे जिसके शब्द सभी को भाते; किन्तु साथ ही उन्होंने संस्कृत को भी मंगलाचरण के रूप में अपनाया और उसमें भी श्लोक लिखे, परन्तु उसको भी कहीं जनता से उठाकर निरे पंडितों के बीच में नहीं भेजा। नहीं, उनकी संस्कृत भी तो सब की संस्कृत है। उसमें वैयाकरणों को व्याकरण का दोष दिखाई देता है तो दे, पर जनता को तो उसमें अपना मङ्गल

ही प्राप्त होता है। तुलसी ने भाषा के क्षेत्र में जिस प्रणाली को अपनाया है वही साधु और समीचीन है। रामचरितमानस में 'सुभाव' ही नहीं 'सुभाषा' भी है। भाषा और भाव में वही सम्बन्ध है जो सीता और राम में। तुलसीदास ने इनको इसी रूप में लिया भी है। तुलसी ने अपनी सारी भावना को समेट कर इस दोहे में रख दिया है—

> गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
> बंदौं सीताराम पद, जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
>
> —बाल, १८

कहने को तो तुलसीदास कहते यही हैं—

> कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
> आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
> भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
> कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
>
> —बाल, १४

हम नहीं चाहते कि तुलसीदास के इस कोरे कागद के सत्य को असत्य कर दिखायें। पर हम जानते हैं कि इस काव्य-विवेक के अभाव में भी तुलसीदास की कविता में काव्य के सभी अंग उमंग में आकर आये हैं और सभी अपने अपने देश पर ही अवस्थित भी हैं। तुलसी ने छन्द और ध्वनि आदि का निर्देश 'सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना' के प्रसंग में अति संक्षेप में कर दिया है। उसमें छन्द भी है, अलंकार भी है, ध्वनि भी है, वक्रोक्ति भी है, अर्थ भी है, धर्म भी है, रस भी है, भाव भी है, और है सभी को मानस में उचित स्थान भी—घुणाक्षर न्याय से नहीं, अक्षर विज्ञान से। तभी तो तुलसी कहते भी हैं—

> धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥

यहाँ ध्वनि और वक्रोक्ति को मीन कहा गया है और फिर—

नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तडागा॥

में नव रस को भी जलचर बताया गया है। तो क्या इससे यह ध्वनित नहीं होता कि ध्वनि का रस से क्या सम्बन्ध है और कविता में वक्रोक्ति का क्या महत्व है? मीन का जल में जो रूप प्रकट होता है वह 'प्रगटत दुरत' का ही रूप होता है। काव्य में ध्वनि का भी यही स्थान है। भाव और भाषा के विषय में तुलसी का कथन है—

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥

अर्थ पराग है। भाव मकरन्द है। भाषा सुगन्ध है। गन्ध से हम पुष्प की ओर खिचते हैं तो भाषा से काव्य की ओर। अर्थ पराग के रूप में प्रस्तुत होता है तो किन्तु कवि का भाव तो मकरन्द में ही रमा होता है। वही तो उसका रस है। भाषा छन्द को पाकर और भी खिल उठती है तो चौपाई, छन्द, सोरठा आदि पुरइन और रंग रंग के कमल हैं। रस की निष्पत्ति के लिये भाषा को छन्द मय बनाना इसी से तुलसी को इष्ट है। रही अलंकार की बात, सो तुलसीदास ने 'उपमा बीचि बिलास मनोरम' में इसको भी व्यक्त कर दिया है। बहुत से आचार्य तो सभी अलंकारों को उपमा-मूलक ही समझते हैं। तुलसी का भी यही पक्ष प्रतीत होता है। अलंकार का कार्य है अलंकृत करना, शोभा को उभार कर प्रस्तुत करना। यही तुलसी का इष्ट मत है। अब रही युक्ति की स्थिति। सो तुलसीदास युक्ति को 'मणि सीप' कहते हैं। इस युक्ति की परख प्रबन्ध-काव्य में जैसी होती है, वैसी मुक्तक में नहीं। तुलसी युक्ति से पोहकर मणि-हार बनाना चाहते हैं, मणि को वेधना चाहते हैं, कुछ सूक्तियों के द्वारा केवल उपदेश

यही असमंजस है। ताल गीत पर आश्रित है और गीत भाव पर। यदि भाव ही नहीं रहेगा तो संगीत की विधि कैसे बैठेगी? गीत, वाद्य और नृत्य सब कुछ व्यर्थ हो जायगा। तुलसीदास कहते हैं कि भाव का सम्बन्ध अन्तःकरण से है। अन्तःकरण में जो वेदना होती है, कवि उसी को रूप देता है और नट उसी का आचरण करता है। राम और भरत का मिलना इस ढंग का मिलना है कि उसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का लेश भी नहीं रह जाता। अन्तःकरण का सर्वथा लोप हो जाता है। इस प्रकार जब बिम्ब ही नहीं रहा, तब उसका प्रतिबिम्ब कवि के हृदय में क्या पड़ेगा और कवि कैसे उसे शब्द में प्रकट करेगा? कवि को तो केवल अर्थ और शब्द के सहारे अपना काव्य खड़ा करना है; किन्तु जब उसके हृदय में कोई भावना ही नहीं उठती और उसके मानस में कोई प्रतिबिम्ब ही नहीं पड़ता तब वह किस भाव तथा किस भाषा को लेकर कविता करे? कवि तो छाया को अंकित करता है, मूल तक उसकी गति कहाँ? यहाँ मूल ही लुप्त हो गया है तो फिर छाया का दृष्टि-पथ में आना और उसको काव्य रूप में किसी साँचे में ढाल देना किसी कवि के लिये कहाँ तक युक्त है? स्थिति तो यह है कि देवता भी इस स्थिति को नहीं समझ पाते कि उनकी प्रेरणा तथा प्रसाद से भी कवि कुछ कह सके। उनका ताल भी नहीं मिलता कि नट कुछ नाच सके। सारांश यह कि कवि का क्षेत्र अन्तःकरण तक ही समित है। वह कभी अलक्ष्य और अगोचर का वर्णन कर नहीं सकता। वह उसी को रूप देता है जो किसी न किसी रूप में उसके दृष्टि-पथ में आ चुका होता है। वह प्रतिबिम्ब को ही प्रकट करता है, बिम्ब को नहीं। बिम्ब प्रतिबिम्ब से भिन्न नहीं होता; सो तो ठीक; पर रहता है वह उससे सदा निर्लिप्त ही। इसमें भी कोई विप्रतिपत्ति

नहीं। अस्तु, यही तुलसी का कवि की गति के विषय में अभिमत है और है सर्वथा उपयोगी और विचारणीय भी।

अस्तु, गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर उनकी वाणी के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय तो किसी को आश्चर्य न होगा —

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥
ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥
—अयोध्या, २१९

तुलसीदास की इस 'अद्भुत' बानी की आलोचना कितनी कठिन है, इसको कहने की आवश्यकता कदाचित् नहीं रही। तुलसीदास की वाणी जहाँ सुगम है वहीं अगम भी, जहाँ मृदु वहीं कठोर भी। फिर भी तुलसीदास ने अपने सम्बन्ध में आप ही इतना कह दिया है कि यदि उसी के प्रकाश में हम उनकी रचना के मर्म को देखने का संकल्प करें तो हमें कदाचित् किसी प्रकार का भ्रम न हो। तुलसीदास ने स्थल-स्थल पर गूढ़ और मर्म-वचन का उल्लेख किया है और उसका जहाँ तहाँ रहस्य भी खोल दिया है। स्वयं रामचरितमानस की भूमिका में उन्होंने काव्य के प्रायः सभी अंगों का निर्देश कर यह बताने का उद्योग किया है कि उनकी रचना में काव्य के सभी अंग अपने अपने रूप में अपने अपने स्थान पर विराजमान हैं। तुलसीदास ने जहाँ कविता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है वहीं इतना और भी कहा है कि वस्तुतः कविता की खरी कसौटी क्या है? उनकी दृष्टि में सच्ची कविता वही है जिसको सुनकर वैरी भी वैर भूल जाय और सुनते ही उसका बखान कर उठे। सुनिये —

सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराय रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

भाव-व्यञ्जना

रामचरितमानस की रचना में गोस्वामीजी की दृष्टि काव्य पर भी रही है, इसको तो मानना ही होगा। कारण कि रामचरित-मानस का श्रीगणेश ही होता है काव्यांगों को लेकर—

वर्णानामर्थ सङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

'वाणी' और 'विनायक' को जैसे एक में जोड़ दिया गया है, वैसे ही इसमें वर्ण, अर्थ, रस और छन्द का उद्घोष भी कर दिया गया है और अन्त में कर दिया गया है मङ्गल का विधान भी। तात्पर्य यह कि गोस्वामी तुलसीदास ने काव्यमय वाणी को अपनाया है, निरी वाणी को नहीं।

गोस्वामीजी ने रामचरितमानस को जिस रूप में रचा है उसका रूप भी कुछ निराला है। उसकी तुलना संस्कृत के किसी काव्य-ग्रन्थ से नहीं की जा सकती। है तो वह 'वाल्मीकि रामायण' की परम्परा में, पर उसकी पद्धति उससे सर्वथा भिन्न है; उसमें पुराणों की छाया और आगमों का अनुगमन भी है। इतना सब कुछ होते हुए भी रामचरितमानस की कथा ऐसी गठी हुई है कि कहीं से उखड़ने का नाम तक नहीं लेती। तुलसीदास ने जो 'कथा विचित्र बनाई' की बात कही थी वह विचित्रता कहने को ही रही। आज रामचरितमानस की कथा लोगों के हृदय में इतना घर कर चुकी है कि लोग उसी को सच्ची घटना समझते हैं और उसकी विचित्रता को सर्वथा सत्य मान चुके हैं। रामचरितमानस में कथा-वस्तु में जो परि-वर्तन हुआ है वह काव्य की दृष्टि से ही। ऐसे स्थलों के इधर-उधर हो जाने से काव्य के उत्कर्ष में अवश्य प्रगल्भता आ जाती और इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि काव्य में संविधन भी बड़े

प्रथम खंड में संकट के तीन अवसर आये हैं—(१)धनुष-यज्ञ, (२)कैकयी का वरदान और (३)भरत का आग्रह। धनुष-यज्ञ के अवसर पर हमें जो आकुलता दिखाई देती है वह अन्यत्र नहीं। तुलसीदास ने इस अवसर पर हृदय की चटपटी का बहुत ही सरस और सुशील वर्णन किया है। इस अवसर पर चित्त में जो क्षिप्रता दिखाई देती है वह द्वितीय 'अवसर' में पहुँच कर कुछ गम्भीर हो जाती है, किन्तु उसकी गति मन्द नहीं पड़ती। वहाँ सभी आतुर से हो जाते हैं और व्यग्र हो पद पद में विवशता का अनुभव करते हैं। धनुष-यज्ञ का संकट सबके लिये नहीं था। अतः उसमें केवल जनक के परिवार का हृदय उमड़ा है और सो भी विशेषतः पिता, पुत्री और माता का है। परन्तु अयोध्या में जो संकट पड़ा है उससे कोई अछूता नहीं रहा है। राम ने धनुष तोड़ कर जैसे पहले संकट को दूर किया वैसे ही घर छोड़ कर दूसरे संकट को भी। पहले में भी कुछ जीव दुखी हुए थे, पर दूसरे में कुछ जीवों को छोड़ कर सभी दुखी हुए। तीसरा संकट और भी विकट निकला। आशा थी भरत राज्य करेंगे और चौदह वर्ष में राम भी वन से लौट आयेंगे, पर बात ठीक इसके विपरीत निकली। भरत भी वन को चल पड़े। चित्रकूट में सब का चित्त उलझ गया और किसी की बुद्धि कोई मार्ग निकालने में सफल नहीं हुई। अन्त में राम की चरण-पादुका ने उस संकट को भी दूर किया और लोगों के हृदय की आँधी दूर हुई, वह जाती रही और सबके हृदय में आशा छा गई। इस प्रकार तुलसीदास ने इन तीनों अवसरों पर हृदय के भावों को बहुत ही रम्य और सजग रूप में प्रदर्शित किया है और इसमें सफलता भी उनको ऐसी मिली है कि क्या कभी फिर किसी को ऐसी स्थिति में ऐसी दिव्य प्राप्त होगी! विह्वलता, व्यग्रता और व्यथा का ऐसा मार्मिक और

मनोरम चित्रण अन्यत्र कहाँ ? तुलसीदास ने वैष्णवों को भक्ति देने में जो सफलता प्राप्त की है वह उन्हीं की है। यदि किसी को भगवान शील का दर्शन करना है तो वह इसी ग्रंथ को देखे। इसमें शक्ति की अपेक्षा शील ही का प्राधान्य है, और है सर्वत्र उसी का मधुर शासन भी। शक्ति का प्रदर्शन तो 'लंका-कांड' में हुआ है और स्वभाव का 'विनय-पत्रिका' में।

गोस्वामी तुलसीदास के सामने सबसे बड़ा संकट था सीता के रूप का। भक्त लोग सीता को, विशेषतः उनके रूप को, जिस रूप में देखते आते हैं उसमें सजने की आवश्यकता नहीं। तुलसीदास भक्ति का प्रतिपादन करें और सीता के नख-शिख को खोल दिखावें, यह कैसे सम्भव था ? यह तो हुई भक्ति-क्षेत्र की कठिनाई। इधर रस के प्रेमियों का कहना है कि विभाव के उत्कर्ष के बिना रस का सम्यक् परिपाक ही नहीं होता। नायिका के नख-शिख के बिना रस को सन्तोष कहाँ ? गोस्वामीजी इसी संकट में गिरे थे। किन्तु उन्होंने इसको भी दूर किया और अपनी अनुपम रचना में नख-शिख को भी ला दिया; परन्तु सब के लिये नहीं, अधिकारियों के लिये ही और सो भी अपने ढंग पर रूपकातिशयोक्ति के रूप में ही। देखिये वियोग की दशा में राम के सामने सीता का कौन सा रूप नाच रहा है। कहते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
बरुनपास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥

—अरण्य, २४

नख-शिख प्रेमियों के लिये तुलसीदास ने स्त्री के नख-शिख को यहीं तक रहने दिया है। इसके आगे उनसे कुछ और न हो सका। तो भी उन्होंने संयोग में शृंगार रस का ऐसा दिव्य स्रोत बहाया कि वैसा पवित्र और प्रसन्न प्रवाह किसी से दिखाते न बना। पुष्प-वाटिका में सीता और राम का जो मिलन होता है और उसमें जो 'चितवन' दिखाई देती है वही मारीच-वध तक बनी रहती है। तुलसीदास ने किया यह है कि कुछ को अकथनीय के रूप में अंकित किया और कुछ को सरस रूप में चित्रित। उन्होंने इसी अकथनीय रूप में सीता के सौन्दर्य अथवा स्त्री के रूप को भी रखा है। यह रूप राम के हृदय में किस प्रकार भिनता और सीता के हृदय में किस प्रकार रम जाता है इसको उन्होंने पुष्प-वाटिका के प्रसंग में बड़े ही मार्मिक ढंग से दिखाया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि स्त्री और पुरुष की भाव-व्यञ्जना में भेद क्या होता है। यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि राम को सीता का पता चलता है 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि' से और सीता को राम की सूचना मिलती है एक सखी के द्वारा। राम हृदय के क्षोभ को कहकर रह जाते हैं, पर सीता पर राम के दर्शन का प्रभाव यह पड़ता है कि समाधि लग जाती है—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुबर छवि देखे। पलकन्हिहू परिहरी निमेखे॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

—बाल, २३७

राम इस दशा को कभी प्राप्त नहीं होते। उनके हृदय में तो बस सीता की मूर्ति बस जाती है अथवा वे उसे भली भाँति

अपने चित्त में उतार लेते हैं —

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥
परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥
—बाल, २४०

गोस्वामीजी इस बात को ठीक समझते हैं कि स्त्री की भावना और पुरुष की भावना में भेद क्या होता है। जब कभी जिस किसी अवसर पर उन्होंने इसको लिया है तब इसको दिखाया भी इसी रीति से है। रंग-भूमि में राम को जिसने जिस रूप में देखा वह तो संसकृत की छाया कही जाती है अतएव उसे छोड़िये और देखिये यह कि धनुष के टूट जाने पर किसके हृदय में कैसी लहर दौड़ती है और किसको कैसा सुख प्राप्त होता है। लीजिये —

सखिन सहित हरषीं सब रानी। सूखत धानु परा जनु पानी॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥
सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥
रामहि लखन बिलोकत कैसे। ससिहि चकोर किसोरक जैसे॥
—बाल, २६८

इसमें भूपों को तो दूर कीजिये और रानी तथा राजा और सीता तथा लक्ष्मण के हृदय की थाह लीजिये और देखिये कि तुलसी ने एक के भाव को दूसरे से कैसे फरिया दिया है। देख लिया न, अप्रस्तुत से कैसा काम लिया गया है? कृपया 'चातकी' और 'चकोर' को न भूलिये।

एक ही भाव धीरे धीरे किस प्रकार हृदय पर अपना आसन जमाता और धीरे धीरे आश्रय को ढीठ बनाता जाता है इसको भी थोड़ा देख लीजिये। चातकी सीता राम के रूप को आँख भर देखना चाहती हैं, किन्तु ऐसा कर नहीं पातीं। फलतः उनके नैनों की दशा यह हो जाती है—

प्रभुहि चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधुमंडल डोल॥

—वही, २६१

इस 'डोल' की गति पर ध्यान रखते हुए देखिये यह कि मन की बात हो जाने पर मन की स्थिति क्या हो जाती है और सीता की उससे कैसी ठन जाती है—

पुनि पुनि रामहि चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर मीन छवि, प्रेम पियासे नैन॥

—वही, २३१

छवि भी ऐसी निखर जाती है कि अब 'मीन' का रंग फीका पड़ जाता है और मन तो यहाँ तक ढीठ हो जाता है कि सीता को उस अनुपम सौन्दर्य के हेतु यह उपाय रचना पड़ता है—

निज पानि मनि महुँ देखियति मूरति सुरूप निधान की।
चालति न भुजवल्ली विलोकनि विरह भय बस जानकी॥

—वही, २३२

धीरे धीरे यह भाव बहुत गहरा और प्रौढ हो जाता है। फिर भी यह भूलना न होगा कि शील कभी लज्जा और संकोच को छोड़ नहीं सकता। फलतः वन-यात्रा में सीता को अपने पति का परिचय इस प्रकार देना पड़ता है—

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसकानी॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचित वर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर वचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लपन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

—अयोध्या, ११७

'मन महुँ मुसकानी' पर मर्यादा का बहुत कड़ा अनुशासन है, अन्यथा बात तो कुछ खुल कर मुसकाने की ही है।

'कवितावली' में तुलसीदास ने इसी को इस रूप में अंकित भी किया है—

तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली ।

—अयोध्या, २२

'कछू' हाँ कछू ही ।

उधर राम की चितवनि की यह दशा है कि—

अस कहि फिर चितए तेहि ओरा । सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ॥
भए बिलोचन चारु अचंचल । मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ॥

—बाल, २३९

राम को फिर सीता की ओर देखने का अवसर तब प्राप्त होता है जब वह रंगभूमि में आतीं और 'करिहि मोहि रघुबर के दासी' की कामना करती हैं । गोस्वामी तुलसीदास भी इसी अवसर पर कहते हैं—

राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे से देखि ।
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि ॥

—बाल, २६९

और फिर तो दोनों की दशा यह हो जाती है कि—

सिय राम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहु न लखि परै ।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कवि कैसे करै ॥

—वही, ३१८

किसी कवि को इस 'अगोचर अवलोकनि' के संकेत से सन्तोष नहीं हो सकता । वह तो जिस चितवनि की जोह में लगा है वह तो वह चितवनि है जिसको सभी एकटक देख सकें । अतएव उसका निश्चय है—

तुम अति हित चितइहौ नाथ तन बार बार प्रभु तुमहि चितैहैं ।
यह सोभा सुख-समय बिलोकत काहू तो पलकैं नहिं लैहैं ॥

—गीतावली, सुन्दर, ५१

राम और सीता के संयोग-शृंगार के सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिये कि तुलसीदास ने उसको बहुत ही दिव्य और सहज रूप में अंकित किया है। इसे देखना ही हो तो बस धीरे से चित्रकूट पहुँच जाइये और साँस रोक कर देखिये यह कि—

फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित-लता-जाल हरति छबि बितान की।
मन्दाकिनी तटिनि-तीर, मंजुल मृग बिहग भीर,
धीर मुनिगिरा गभीर सामगान की।
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर झर,
जल-कन घन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंचबान की।
बिरचित तहँ पर्नसाल, अति बिचित्र लखन लाल,
निवसत जहँ नित कृपालु राम-जानकी।
निज कर राजीव-नयन पल्लव-दल-रचित सयन,
प्यास परसपर पियूष प्रेमपान की।
सिय अँग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग,
तिलक करनि का कहौं कलानिधान की।
माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥

—गीतावली, अयोध्या, ४४

गोस्वामी तुलसीदास के हृदय में जो जोड़ी इस प्रकार बस गई है वह है तो पुष्प-वाटिका की है जोड़ी, पर इसमें अब कुछ विशेषता आ गई है। राजधानी छोड़ते समय जिसको लेशमात्र भी क्लेश नहीं हुआ था उसी की दशा पुर से बाहर होते ही यह हो जाती है कि—

पुरतें निकसीं रघुबीर-बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।

> झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये, मधुराधर वै।
> फिरि बूझति हैं 'चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
> तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।
>
> —कवितावली, अयोध्या, ११

राम की आँख में आँसू भी भला आते हैं और सो भी 'तिय' के कोमल से प्रश्न पर, इसको कौन जानता था। राम धीरे धीरे पहुँच गये उस स्थान पर जहाँ उनकी 'पर्णशाला' बनी और प्रिया को प्रेम-पीयूष का पान मिला; किन्तु वहाँ तक पहुँचने में कितने पानी की आवश्यकता पड़ी और राम की आँख से कितना पानी गिरा, इस का भी कुछ ठिकाना है? उस संयोग की वेदना भी कैसी विलक्षण है कि सीता राम से कहती हैं—

> जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
> पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।
> तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
> जानकीं नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े।
>
> —कवितावली, अयोध्या, १२

संयोग में सीता और राम की जब यह दशा है तब वियोग में कैसी होगी, इसे कोई भी समझ सकता है; परन्तु इसी तुलसी के सामने दो ऐसी भी जोड़ियाँ हैं जिनकी दशा निराली है। जहाँ यहाँ कभी खटपट नहीं होती, वहाँ वहाँ सदा खटपट ही रहती है। वालि तारा की सुनता नहीं तो रावण मन्दोदरी की मानता नहीं। दशरथ भी कैकयी को मानना नहीं चाहते, पर मरते हैं उसकी मान कर ही। राम भी सीता को साथ लेना नहीं चाहते, पर चलते हैं सीता को साथ लेकर। बस, इन दम्पतियों में विरोध एक ही बार हुआ और हुआ ऐसा कि सब की बन गई, पर उन दम्पतियों में मेल कभी नहीं हुआ, पर उससे भी लाभ सबका हुआ। तुलसीदास ने दम्पति-प्रेम को पक्ष,

कहाँ और किस रूप में व्यक्त किया है, इस पर विचार करने का यह अवसर नहीं। दिखाना तो इतना भर इष्ट है कि तुलसी किस प्रकार शृंगार को दिव्य और रम्य बनाते, साथ ही रहने उसे सदा देते हैं लौकिक ही। अच्छा होगा, राम और सीता के वियोग को दिखाने के पहले एक झाँकी रावण और मन्दोदरी की भी ले ली जाय। देखिये, मन्दोदरी रावण को समझाती है तो रावण कैसा प्रेम दिखाता है और भीतर ही भीतर कैसा विरस हो जाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना॥
नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया॥
रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहिं सुनावा॥
सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥
जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि कहेउ मोरि प्रभुताई॥
तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भय मोचनि॥
मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ॥

एहि बिधि करत बिनोद बहु, प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति, सभा गयेउ मद अंध॥

—लंका, १६

इस दम्पति-रति की दशा ही कुछ और है। यहाँ 'प्रिया' की भरमार है, पर हृदय का प्रसार नहीं। यहाँ 'विनोद' की वार्ता है; पर विलास का हुलास नहीं। अतः इसे यहीं छोड़ देखिये यह कि तुलसी ने राम-सीता के प्रेम-प्रमोद को किस रूप में लिया है। देखा, आपने देख लिया है कि चित्रकूट की रमणीय पर्णशाला में रमण ने रमणी के शृंगार में कैसा योग दिया है। अस्तु, अब मायाकृत वियोग का परिणाम भी देखिये। अच्छा, तो होते होते हुआ यह कि माया की सीता की क़ामना और

झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये, मधुराधर वै।
फिरि बूझति हैं 'चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित है।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।

—कवितावली, अयोध्या, ११

राम की आँख में आँसू भी समा सकते हैं और सो भी 'तिय' के सरल से प्रश्न पर, इसको कौन जानता था। राम धीरे धीरे पहुँच गये उस स्थान पर जहाँ उनकी 'पर्णशाला' बनी और प्रिया को प्रेम-पीयूष का पान मिला; किन्तु वहाँ तक पहुँचने में कितने पानी की आवश्यकता पड़ी और राम की आँख से कितना पानी गिरा, इस का भी कुछ ठिकाना है? इस संयोग की वेदना भी कैसी दिव्य है कि सीता राम से कहती हैं—

जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यौ, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े।

—कवितावली, अयोध्या, १२

संयोग में सीता और राम की जब यह दशा है तब वियोग में कैसी होगी, इसे कोई भी समझ सकता है; परन्तु इसी तुलसी के सामने दो ऐसी भी जोड़ियाँ हैं जिनकी दशा निराली है। जहाँ यहाँ कभी खटपट नहीं होती, वहाँ वहाँ सदा खटपट ही रहती है। बालि तारा की सुनता नहीं तो रावण मन्दोदरी की मानता नहीं। दशरथ भी कैकयी की मानना नहीं चाहते, पर मरते हैं उसकी मान कर ही। राम भी सीता को साथ लेना नहीं चाहते, पर चलते हैं सीता को साथ लेकर। बस, इन दम्पतियों में विरोध एक ही बार हुआ और हुआ ऐसा कि सब की बन गई, पर उन दम्पतियों में मेल कभी नहीं हुआ, पर उससे भी लाभ सबका हुआ। तुलसीदास ने दम्पति-प्रेम को कब,

कहाँ और किस रूप में व्यक्त किया है, इस पर विचार करने का यह अवसर नहीं। दिखाना तो इतना भर इष्ट है कि तुलसी किस प्रकार शृंगार को दिव्य और रम्य बनाते, साथ ही रहने उसे सदा देते हैं लौकिक ही। अच्छा होगा, राम और सीता के वियोग को दिखाने के पहले एक झाँकी रावण और मन्दोदरी की भी ले ली जाय। देखिये, मन्दोदरी रावण को समझाती है तो रावण कैसा प्रेम दिखाता है और भीतर ही भीतर कैसा विरस हो जाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना॥
नारि सुभाउ सत्य कबि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥
रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा॥
सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥
जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि कहेउ मोरि प्रभुताई॥
तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भय मोचनि॥
मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहिं काल बस मति भ्रम भयऊ॥
एहि बिधि करत बिनोद बहु, प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति, सभा गयेउ मद अंध॥
—लंका, १६

इस दम्पति-रति की दशा ही कुछ और है। यहाँ 'प्रिया' की भरमार है, पर हृदय का प्रसार नहीं। यहाँ 'विनोद' की वार्ता है, पर विलास का हुलास नहीं। अतः इसे यहीं छोड़ देखिये यह कि तुलसी ने राम-सीता के प्रेम-प्रमोद को किस रूप में लिया है। देखा, आपने देख लिया है कि चित्रकूट की रमणीय पर्णशाला में रमण ने रमणी के शृंगार में कैसा योग दिया है। अस्तु, अब मायाकृत वियोग का परिणाम भी देखिये। अच्छा, तो होते होते हुआ यह कि माया की सीता की क़ामना और

लक्ष्मण की विवेकहीनता के कारण सीता का वियोग हो गया और राम को अपनी गृहस्थी ऐसी दीख पड़ी —

आस्रम निरखि भूले द्रुम नव फले न फूले।
अलि खग मृग मानो कबहूँ न हे।
मुनि न मुनिबधूटी, उजरी परन कुटी
पंचबटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे ॥१॥
उठी न सलिल लिये प्रेम प्रमुदित हिये
प्रिया, न पुलकि प्रिय बचन कहे।
पल्लव सालन हेरी, प्रान बल्लभा न टेरी
बिरह बिथकि लखि लरन गहे ॥२॥
देखे रघुपति-गति बिबुध बिकल अति,
तुलसी गहन बिनु दहन दहे।
अनुज दियो भरोसो, तौलों है सोचु खरो सो,
सिजसमाचार प्रभु जौलौं न लहे ॥३॥

—गीतावली, अरण्य, १०

'उठी न सलिल लिये' में राम का जो पारिवारिक जीवन जंगल में सामने आता है वह रामचरितमानस में राजभवन में भी 'निज कर गृह-परिचर्या करई' के रूप में व्यक्त होता है और तुलसी के आदर्श को प्रस्तुत करता है। इस वियोग का परिणाम क्या हुआ, इसको कौन नहीं जानता ? किन्तु इसके उपरान्त जो महा वियोग अपने आप मोल लिया गया उसको तुलसी सबको सर्वत्र नहीं बताना चाहते और रामचरितमानस में तो उसको सर्वथा पी ही जाते हैं और सीता-राम के आनन्द में किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ने देते। उनके रामराज्य में किसी दुर्मति की आशंका नहीं, फिर कोई कुछ कहे तो कैसे कहे !

हाँ, गोस्वामी तुलसीदास करुणा के कवि हैं, वियोग के नहीं। वियोग उनको नहीं भाता। जब कभी वियोग का

अवसर जहाँ कहीं आता है तब तुलसीदास सीधे से कह देते हैं कि कवि के हृदय में हुलास ही नहीं होता है, फिर वह इसका वर्णन कैसे करे। तुलसीदास की समझ में वियोग का वर्णन करना कठोरता का काम है, सहृदयता का नहीं। कहते हैं—

बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू।
सो सकोचु रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी॥
—अयोध्या, ३१८

जब राम और भरत के वियोग के प्रति कवि की यह धारणा है तब राम और सीता के वियोग में उसकी तल्लीनता कैसे हो सकती है? सो भी ऐसी स्थिति में जब उसे पता है कि यह बनावटी अथवा माया की सीता का वियोग है। कवि का इसी से तो यहाँ तक कहना है कि—

प्रभु की दसा सो समौ कहिबे को कबि उर आह न आई।
—गीतावली, अरण्य, ११

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कवि ने वियोग दशा का वर्णन ही नहीं किया है। नहीं, वियोग में राम की जो दशा होती है उसका वर्णन पहले ही आ चुका है। यहाँ कुछ सीता की दशा को भी देख लेना चाहिये। रामचरितमानस में कई अवसरों पर सीता के वियोग को अंकित किया गया है। 'हरण' के अवसर पर, हनुमान के आगमन के प्रसंग पर और रावण के प्रपंच के समय। हमारी दृष्टि में इन तीनों प्रसंगों में सबसे अच्छा प्रसंग है रावण-वध का ही। इसी अवसर पर सीता के हृदय की सच्ची वेदना वही है। कहती हैं—

होइहि काह कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता॥
रघुपति सर सिर कटेहु न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई॥
मोर अभाग्य जियावत ओही। जेहि हौं हरिपद कमल बिछोही॥
जेहि कृत कपट कनक मृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा॥

जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥
रघुपति बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी॥
—लंका, ६६

क्षोभ, ग्लानि, चिन्ता, उद्वेग आदि भावों की जैसी व्यञ्जना इन थोड़े से पदों में हुई है वैसी और कहीं नहीं। 'गीतावली' में तुलसीदास ने इस वियोग को और ही रूप में लिया है। देखिये हनुमान राम से कहते हैं—

तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै, सुनहु, राम करुनानिधि, जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न।
लोचन नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचन कोन।
'हा' धुनि'-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन।
जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहुँ तेहि मग पगु न धरयो तिहुँ पौन।
तुलसिदास प्रभु, दसा सीय की मुख करि कहत होति अति गौन।
दीजै दरस दूरि कीजै दुख हौ तुम्ह आरत आरति-दौन।
—सुन्दर, २०

गोस्वामीजी की सच्ची धारणा यही है कि जी की वेदना जी से ही जानी जाती है, जीभ से वह बखानी नहीं जा सकती। उन्होंने सूत्र रूप से प्रेम के मर्म को इस चौपाई में मथ कर रख दिया है—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥
—सुन्दर, १५

और इस पद में सविस्तर दिखा भी दिया है—

कपि के चलत सिय को मन गहबरि आयो।
पुलक सिथिल भयो सरीर, नीर नयननि्ह छायो॥
कहन चह्यो सन्देस, नहिं कह्यो, पिय के जिय की जानि हृदय दुसह-दुख दुरायो।
देखि दसा ब्याकुल हरीस, ग्रीषम के पथिक ज्यों धरनि तरनि तायो॥

नीच तें नीच लगी अमरता, छल को न बल को निरखि थल परम प्रेम पायो।
कै प्रबोध मातु सों असीस दीन्ही हैहै तिहारोई मन भायो॥
करुना कोप लाज भय भरो कियो गौन, मौन ही चरन कमल सीस नायो।
यह सनेह-सरबस समौ तुलसी-रसना रुखी ताही तें परत गायो॥
—गीतावली, सुन्दर, १५

राम-चरित में केवल पति-पत्नी का ही वियोग नहीं है; उसमें एक प्रकार से सभी का सब से कुछ न कुछ वियोग है ही। राम के भावी वियोग से लक्ष्मण की जो दशा होती है उसको तो थोड़े में ही तुलसीदास ने टाल दिया है; किन्तु लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम के हृदय में जो वेदना उठी हुई है उसको कुछ दूर तक चलने दिया है। रामचरितमानस में राम की व्याकुलता दो अवसरों पर बोल पड़ी है और उनका प्राकृत रूप सर्वथा निखर कर हमारे सामने आ गया है। इनमें एक तो सीता-हरण के अवसर पर जब वह पशु-पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं और दूसरा लक्ष्मण-शयन पर जब वह मूर्च्छित हो पृथ्वी पर पड़ जाते हैं। राम का यह विलाप उनके भ्रातृ-स्नेह को व्यक्त करता है—

जौं जनत्यों बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन नहिं मनतेउँ ओहू॥

पर तो न जाने कितना विवाद होगा, पर है वस्तुतः इसमें उनकी मर्म-व्यथा ही का उत्कर्ष।

तो भी, वियोग के वर्णन में तुलसी को सच्ची सफलता मिली है कौशल्या के प्रसंग में ही। वियोग की जैसी गहरी और व्यापक अनुभूति कौशल्या को हुई है वैसी किसी दूसरे को नहीं। रामचरितमानस में उनकी वियोग-दशा का चित्रण है, तो 'गीतावली' में उनके वियोगी-हृदय का। उनके हृदय में कैसा उन्माद छा गया है इसको देखना हो तो इस पद को पढ़ें—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ॥

कबहुँ प्रथम ज्यों जाय जगावति कहि प्रिय बचन सवारे।
"उठहु तात, बलि मातु बदन पर, अनुज सखा सब द्वारे"
कबहुँ कहति यों "बड़ी बार भइ जाहु भूप पहँ, भैया।
बंधु बोलि जेंइय जो भावै गई निछावरि मैया"॥
कबहुँ समुझि बन गवन राम को रहि चकि चित्रलिखी सी।
तुलसिदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी सी॥

—गीतावली, अयोध्या,

'सिखी सी' की व्याख्या क्या करें? सचेत दशा में उनकी मर्म-व्यथा को जानना हो तो जान लें कि —

माई री, मोहि कोउ न समुझावै।
राम-गवन साँचो किधौं सपनो, मन परतीति न आवै॥
लगेइ रहत मेरे नैननि आगे राम लषन अरु सीता।
तदपि न मिटत दाह या उर को बिधि जो भयउ बिपरीता॥
दुख न रहै रघुपतिहि बिलोकत, तनु न रहै बिनु देखे।
करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी यहि लेखे॥
कौसल्या के बिरह-बचन सुनि रोइ उठीं सब रानी।
तुलसिदास रघुबीर-बिरह की पीर न जात बखानी॥

—वही, ५२

सचमुच रघुवीर का विरह था ऐसा ही कि उसका वर्णन नही हो सकता; किन्तु इसका पछतावा भी तो कम नहीं कि सुत को वन में छोड़ कर भवन में चली आई? निदान —

हाथ मीजिबो हाथ रह्यो।
लगी न संग चित्रकूटहु तें ह्याँ कहा जात बह्यो॥
पति सुरपुर, सिय राम लषन बन, मुनिव्रत भरत गह्यो।
हौं रहि घर-मसान पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो॥
मेरोइ हिय कठोर करिबे कहँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो।
तुलसी बन पहुँचाइ फिरी सुत, क्यों कछु परत कह्यो?

—वही, ८४

गोस्वामी तुलसीदास ने विरह-वेदना को और व्यापक रूप

देने के विचार से पशु-पक्षियों को लिया है। राम के वियोग में उनके 'बाजि' की जो दशा होती है उसको देखकर माता कौशल्या और भी द्रवित हो जाती हैं और सहसा फूट कर कह पड़ती हैं —

राघौ एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ॥
जे पय प्याइ पोखि कर पंकज बार-बार चुचकारे॥
क्यों जीवहिं मेरे राम लाडले! ते अब निपट बिसारे॥
भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जान तिहारे,॥
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे मनहुँ कमल हिम मारे॥
सुनहु पथिक, जो राम मिलहिं बन कहियो मातु सँदेसो॥
तुलसी मोहिं और सबहिन ते इनको बड़ो अँदेसो॥

—वही, ८७

उधर शुक-सारो की दशा यह है कि उनमें भी इस व्यापक वियोग की चर्चा छिड़ती है, पर एक कुहुक के साथ वह भी वहीं की वहीं रह जाती है —

सुक सों गहबर हिय कहै सारो।
बीर कीर, सिय राम लखन बिनु लागत जग अँधियारो॥
पापिनि चेरि, अयानि रानि, नृप हित अनहित न बिचारो।
कुलगुरु सचिव साधु सोचतु बिधि को न बसाइ उजारो?
अवलोके न चलत भरि लोचन, नगर कोलाहल भारो।
सुने न बचन करुनाकर के जब पुर परिवार सँभारो॥
भैया भरत भावते के सँग बन सब लोग सिधारो।
हम पँख पाइ पींजरनि तरसत, अधिक अभाग हमारो॥
सुनि खग कहत अंब, मौंगी रहि समुझि प्रेम पथ न्यारो।
गए ते प्रभुहिं पहुँचाइ फिरे पुनि करत करम गुन गारो॥
जीवन जग जानकी लखन को मरन महीप सँवारो।
तुलसी और प्रीति की चरचा करत कहा कछु चारो॥

—वही, ८८

नहीं, राम के वियोग से दुःखी तो सभी हुए, किन्तु सभों ने जैसे-तैसे उसे सहा ही। वह जिसके लिये असह्य हुआ वह उसका कारण दशरथ ही था। निदान उसका मानसिक पश्चात्ताप है—

सुएउ न मिटैगो मेरो मानसिक पछताव।
नारिबस न बिचार कीन्हो काज, सोचत राउ॥
तिलक को बोल्यो, दियो बन, चौगुनो चित चाउ।
हृदय दाडिम ज्यों न बिदर्यो समुझि सील सुभाउ॥
सीय रघुबर लषन बिनु भय भभरि भगी न आउ।
मोहिं बूझि न परत यातें कौन कठिन कुघाउ॥
सुनि सुमंत, कि आनि सुंदर सुवन सहित जिआउ।
दास तुलसी, नतरु मोको मरन अमिय पिआउ॥

—वही, ४७

माता कौशल्या के 'मरिबोइ मृतक दह्यो है' और पिता दशरथ के 'मरन अमिय पिआउ' में क्या नहीं रसा है? वेदना की ये दो आँखें कभी बन्द नहीं हो सकतीं और अवध की सारी स्थिति को स्पष्ट कहने के लिये सदा खुली रहती हैं। महाराज दशरथ के आँख मूँदने पर अवध में वैसा शोक-सागर नहीं उमड़ा जैसा उनके कैकेयी के वरदान देने पर उमड़ा था। रामचरितमानस में केवल दो निधन ऐसे हुए हैं जो राम के पक्ष के हैं। इन दोनों के प्रति शोक की बाढ़ वह नहीं आती जो ऐसे अवसरों पर आया करती है। इनमें से भी दशरथ का मरण ऐसे अवसर पर हुआ जब अवध में कोई उनका उत्तराधिकारी नहीं रह गया था। राम-लक्ष्मण वन को जा चुके थे और भरत-शत्रुघ्न अभी ननिहाल में ही पड़े थे। ऐसी स्थिति में सबको राज्य की चिन्ता हुई और सभी इस तर्क-वितर्क में पड़ गये कि भरत आकर क्या करेंगे। उधर राम और इधर भरत की स्थिति ने स्नेहियों को अपने आप में ऐसा समेट कर जकड़ लिया कि दशरथ के लिये किसी के हृदय में उतना स्थान

हीं नहीं रहा जितना ऐसे अवसर पर स्वभावतः रह सकता था। उधर दशरथ-सखा बूढ़े जटायु की स्थिति यह है कि उसको राम की गोद में मरने में जो आनन्द आता है वह किसी जीवन में नहीं; अतः उसके प्रति भी शोक का कोई स्थान नहीं। अब रही विपक्ष की बात। विपक्ष में कई अवसरों पर शोक का प्रसंग आया है, पर कहीं भी उसको विलपने से आगे नहीं बढ़ने दिया गया है। इसका कारण एक तो गोस्वामीजी की प्रवृत्ति है, जिसका उल्लेख पहले भी हो चुका है और दूसरा है पात्र के प्रति लोगों की अवज्ञा। मेघनाद, कुम्भकर्ण और रावण जैसे वीर योद्धाओं के निधन पर स्त्रियाँ रोती अवश्य हैं, पर साथ ही उनके हृदय में यह भी भाव बना रहता है कि राम के विरोध का परिणाम यही होना था। रावण जैसे प्रतापी वीर के प्रति उसकी पत्नी मन्दोदरी की जो भावना है वह उसके शोक को बहुत दूर तक फैलने नहीं देती और अन्त में सब सबको समेट कर उसे राम का भक्त बना देती है। उसका कहना है —

राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रह न कुल कोउ रोव निहारा॥
तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा।
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥

—लंका, १०४

तात्पर्य यह कि रामचरित मानस में जो शोक उमड़ता है वह अनिष्ट के कारण नहीं, अनिष्ट की चिन्ता में। तुलसीदास ने अनिष्ट की चिन्ता से अवध को जितना शोक-मग्न किया है उतना किसी अनिष्ट से कभी किसी ने किसी को नहीं। काव्य में जैसी करुण विप्रलंभ की ख्याति है वैसी ही तुलसी के 'मानस' में करुण सम्भोग की भी। कैकेयी और दशरथ का कोप-भवन का प्रसंग ही इसके लिये पर्याप्त है और सारा अवधकांड ही इसका प्रमाण है। अवध-वासी ऐसी स्थिति

में एक दूसरे से मिलकर जितना दुखी और शोक-मग्न होते हैं उतना एकान्त में नहीं। तुलसीदास की यह विशेषता विशेष रूप से विचारणीय है और इसको देखते हुए मानना पड़ता है कि शोक की जैसी परख तुलसी की है वैसी किसी की नहीं। 'उत्तर रामचरित' में भवभूति ने राम को रुलाया है, पर उनका रोना सबको नहीं भाया। रामचरितमानस में राम रोते नहीं, पर अवध की सुधि आते ही उनकी आँखों में भी आँसू आ ही जाते हैं। रामचरितमानस में जी सभी का रोता है, पर रोने का काम किसी का नहीं होता। सभी को अपने धर्म और अपने कर्म की चिन्ता है। अस्तु, रामचरितमानस में जो करुण-धारा दिखाई देती है वह अनिष्ट की आशंका से उत्पन्न होती और धीरे धीरे बहुत ही व्याप्त होती जाती है। वास्तव में तुलसीदास ने विषाद को वाणी के रूप में बहाया है, पर कहीं उसको वाचाल नहीं होने दिया है। इसी से उसकी अनुभूति भी सहज, गम्भीर और निर्भ्रान्त होती है, जो जी से निकल कर जी में पैठती और उसको करुणा का घर बना लेती है।

तुलसीदास ने इस प्रसंग में इतना और भी किया है कि काम और क्रोध को एक साथ ही एक ही प्रसंग में पकड़ा है और अन्त में बड़ी सरलता से दिखा दिया है कि काम और क्रोध का दुष्परिणाम अन्त में शोक ही कैसे होता है। दशरथ में काम और कैकेयी में कोप, यही तो कोप-भवन की लीला है? राजा दशरथ उमंग में आकर जब कहते हैं—

> कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू॥
> सकौं तोर अरि अमरउ मारी। का'ह कीट बपुरे नर नारी॥
> जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चंद चकोरू॥
>
> —अयोध्या, २६

तब काम की दृष्टि से कोई बड़ी बात नहीं होती और फलतः

उधर से भी यही सीधी सी बात निकलती है —

सुनहु प्रान प्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥
माँगहुँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी॥

—वही, २६

बात बहुत सीधी है, पर परिणाम ऐसा भयंकर होता है कि —

सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससि कर छुवत बिकल जिमि कोकू॥
गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥
मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥
अवध उजारि कीन्हि कैकेई। दीन्हेसि अचल बिपति कै नेई॥

—वहीं, २६

दशरथ का इतना झंखना था कि कैकेयी और भी उबल पड़ी और उसका काम क्रोध में परिणत हो गया। फिर तो —

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥
लखी नरेस बात फुरि साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाँची॥

—वही, ३४

अवध के इस काम और इस रोष का परिणाम यह हुआ कि विषाद घर घर में फैल गया और, और तो और सचिव सुमन्त्र की दशा भी ऐसी हो गई कि—

लोचन सजल दीठि भइ थोरी। सुनइ न स्रवन बिकल मति भोरी॥
सूखहि अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी॥

—वही, १४५

उन्हीं के नहीं, सच पूछिये तो इसी अवधि-कपाट ने सबके जीव की रक्षा की, नहीं तो राम-वियोग में न जाने अवध में क्या हो जाता। गोस्वामीजी ने काम और क्रोध के मिले-जुले रूप को पहले मिथिला में भी लिया था और यह जता भी दिया था कि इसका परिणाम सुखद ही क्यों हुआ। काम और क्रोध की स्थिति को ठीक-ठीक समझने और उनके द्वारा इष्ट तक पहुँचने का मार्ग यदि ढूँढ़ निकालना हो तो तुलसी के 'मानस' का अवगाहन करें।

क्रोध का सब से अच्छा और प्रखर प्रसंग परशुराम के संवाद में ही हमारे सामने आया है। रौद्र रस के परिपाक के लिये तुलसीदास ने इसी रुद्र परशुराम और कौतुकी लक्ष्मण को लिया है। और आगे चल कर कुछ रावण तथा अंगद को भी। दोनों प्रसंगों में वक्रोक्ति अथवा व्यंग्य का विधान भी भरपूर हुआ है और लगती हुई बात भी कसकर कही गई है। परन्तु जोड़-तोड़ ठीक न होने के कारण उसमें थोड़ी सी कमी आ गई है। स्वयं तुलसीदास ने 'अनुचित कह सब लोग पुकारा' में इसकी व्यंजना कर दी है। इसके अतिरिक्त समर-भूमि में जहाँ तहाँ इसके दर्शन होते हैं और वीर तथा भयानक के साथ-साथ इसका भी आना-जाना होता रहता है। रावण-सभा में अंगद ने जो अपना क्रोध दिखाया था वह था—

कटकटान कपि-कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि गहि मारी॥
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुत ग्रसे॥
गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अति सुंदर॥

—लंका, ३२

अंगद के प्रताप से रावण के तेज की जो हानि हुई वह यहाँ तक बढ़ती गई कि अन्त में उसका भाई विभीषण भी उसके

लिये भीम बन गया और —

देखि बिभीषण प्रभु स्रम पायो। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायो॥

—लंका ६४

क्रोध के प्रसंग में भूलना न होगा कि इस क्रोध पर तुलसी का नियंत्रण भी पूरा रहा है। धनुष-यज्ञ के अवसर पर जब लक्ष्मण के कान में 'वीर-विहीन मही मैं जानी' की ध्वनि पड़ती है तब उनके क्रोध की सीमा नहीं रह जाती, पर वह राम की उपस्थिति के कारण अपनी मर्यादा को तोड़ भी नहीं सकता। उस समय की स्थिति यह हो जाती है कि एक ही लक्ष्मण का हृदय उधर जनक को देख कर क्रुद्ध हो जाता है तो इधर राम के कारण उसे विनीत होना पड़ता है। फिर भी क्रोध का वेग ऐसा मन्द नहीं कि वह सहसा काबू में आ जाय और अपना करतब न दिखाये। निदान होता यह है —

माखे लखनु कुटिल भै भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं॥

कहि न सकत रघुबीर डर, लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिर, बोले गिरा प्रमान॥

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहौं सुभाव न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासनि पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक इव तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करौं बिलोकिय सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥

तोरौं छत्रकदंड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु भाथ॥

—बाल, २५७-५८

लक्ष्मण के इस कथन में किसी रस-मीमांसक को चाहे जितना दोष दिखाई दे और इस 'रिसौंहैं' के कारण तुलसीदास पर चाहे जितना नाक-भौं चढ़ाये, पर खरी बात तो यह है कि रस का यह आस्वाद अपूर्व है। व्यंग्य, कूट और प्रहेलिका के पुजारी चाहे जो कहें, पर यह तो माना नहीं जा सकता कि किसी रस के प्रसंग में उसका नाम आया नहीं, उसके नाम की गन्ध मिली नहीं कि उसका आस्वाद नष्ट गया। यह और कुछ नहीं, कुतूहल और अद्भुत को बहुत महत्त्व देने का परिणाम है। अतएव हमारा कहना यह है कि यहाँ तुलसीदास ने जो कहा है, समझ कर कहा है और यह दिखाने की सफल चेष्टा की है कि क्रोध का भाव क्या होता है और परिस्थिति में पड़ कर कैसा रंग पकड़ता है। कायिक और वाचिक अनुभावों पर विचार करते समय भूलना न होगा कि हमारा वचन पर जितना अधिकार होता है उतना काया पर नहीं। आपका वाणी पर जैसा अनुशासन होता है आँख पर नहीं। आँख पर भाव का प्रभाव सहसा पड़ता है और दाँत पीस कर रह जाना तो रूढ़ हो गया है। सारांश यह कि तुलसी ने यहाँ क्रोध की अच्छी व्यंजना की है। स्मरण रहे, यह क्रोध उभरा है तो राजा जनक की अनुचित वाणी के कारण, पर यह अपना करतब दिखाना चाहता है पिनाक पर। कारण, पिनाक ही तो सबका कारण है। परन्तु अड़चन यह आ गई है कि राम की आज्ञा के बिना कुछ हो नहीं सकता और राम मौन मारे हैं। निदान लक्ष्मण को भी कुछ संयम से काम लेना पड़ा और उनके क्रोध की धारा कुछ दूसरी ओर भी मुड़ी। राम, जनक और पिनाक, इन तीनों पर उनकी दृष्टि पड़ी और इन तीनों का उनके चित्त पर प्रभाव भी पड़ा। उनका आवेग भीतर से वही बना रहा और तुलसी को इसी हेतु कहना पड़ा—'लषन सकोप वचन जे बोले, डगमगानि महि दिग्गज डोले।' सकोप को यों ही नहीं

टाला जा सकता। आगे के उत्साह का प्रेरक भी यही है। लक्ष्मण में जो उत्साह इस अवसर पर दिखाई देता है वह इसी कोप के प्रभाव से। कोप कायर नहीं कि चुपचाप किसी की सह ले और अपना मुँह भी न खोले। आँख दिखाये बिना क्रोध से रहा नहीं जाता। कीजियेगा क्या? उसका स्वभाव ही यही है।

लक्ष्मण पहले ही से भरे बैठे थे। कायर और कुपूत भूपों की बातों पर उन्हें क्रोध आ रहा था; किन्तु राम का भय भी कुछ कम न था। बात भी कोई वैसी न थी। फलतः —

> अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन सकोर।
> मनहुँ मत्त गज गन निरखि, सिंह किसोरहु चोर॥
>
> —वही, २७२

इसी अवसर पर घटा यह —

> तेहि अवसर सुनि सिव धनुभंगा। आए भृगुकुल कमल पतंगा॥
> देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥
> गौर सरीर भूति भल भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा॥
> सीस जटा ससि बदनु सुहावा। रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा॥
> भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते। सहजहु चितवत मनहुँ रिसाते॥
> वृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृग छाला॥
> कटि मुनिबसन तून दुइ बाँधें। धनु सर कर कुठार कल काँधें॥
>
> सांत बेष करनी कठिन, बरनि न जाइ सरूप।
> धरि मुनि तन जनु बीर रसु, आयउ जहँ सब भूप॥
>
> —वही, २७३

तुलसी ने परशुराम के जिस वीर रूप का चित्रण किया है वह विचित्र है। उसमें क्रोध है और है उत्साह; पर देखने का वेष है शांत। यही दशा इस प्रसंग की भी है। इसमें परशुराम, राम और लक्ष्मण के भावों का उतार-चढ़ाव दिखते ही बनता है। उधर भूपों की बातों से लक्ष्मण भरे बैठे थे, इधर पिनाक के टूट

जाने से परशुराम भी क्रुद्ध थे। फिर क्या था, क्रोध से क्रोध की भिड़ंत हो गई। राम ने बीचबचाव का यत्न किया तो उनको भी इसका फल भोगना पड़ा और अन्त में उनमें भी कुछ क्रोध का दर्शन हो ही गया। उन्होंने भी मन ही मन खीझ कर कुछ बड़ी गम्भीरता से कहा —

जौ हम निदरहिं बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहिं, भयबस नावहिं माथ॥

—वही, २८८

बात ठिकाने की थी, घर कर गई। क्रोध का काम शान्ति से निकल गया और उसका प्रदर्शन भी अच्छा हो गया। परशुराम बड़े से बड़े और लक्ष्मण छोटे से छोटे थे। जोड़ की विषमता परिस्थिति की विषमता से बढ़ कर थी। किन्तु राम की विशालता से सब सध गया। काम और क्रोध का फल सुखद रहा। क्रोध का दुष्परिणाम हुआ लंका में। विभीषण ने रावण को सुझा कर कहा कि 'काम-क्रोध-मद-लोभ सब, नाथ नरक के पंथ' तो उसने उसकी अवहेलना की और अन्त में—

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥
जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा॥
कहसि न खल अस को जग माहीं। भुजबल जेहि जीता मैं नाहीं॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥

—सुंदरकांड, ४१८

और इस 'प्रहार' का परिणाम हुआ 'दशानन' का 'संहार' और इस 'पदग्रहण' का प्रसाद हुआ 'लंकेश' की पद-प्राप्ति। फिर तो विभीषण भी राम का बल पाकर इतना प्रतापी बना कि उसने रावण पर झपट कर आक्रमण किया और डपट कर कहा —

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर नर मुनि नाग बिरुद्धे॥

सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाये । एक एक के कोटिन्ह पाए ॥
तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो । अब तव काल सीस पर नाच्यो ॥
राम बिमुख सठ चहसि संपदा । अस कहि हनेसि माँझ उर गदा ॥

—लंका, ९४

रावण का क्रोध जगा तो ऐसा संग्राम हुआ कि —

भागे बानर धरहिं न धीरा । त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा ॥
दस दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन । गर्जहिं घोर कठोर भयावन ॥
डरे सकल सुर चले पराई । जय कै आस तजहु अब भाई ॥

—लंका, ९६

रावण का उत्साह प्रतिपल बढ़ता गया और रणभूमि का दृश्य और भी भयंकर हो उठा। क्रोध, उत्साह, जुगुप्सा ने एक साथ धावा बोल दिया और—

जोगिनि गहें कर बाल । एक हाथ मनुज कपाल ॥
करि सद्य सोनित पान । नाचहिं करहिं बहु गान ॥
धरु मारु बोलहिं घोर । रहि पूरि धुनि चहुँ ओर ॥
मुख बाइ धावहिं खान । तब लगे कीस परान ॥
जहँ जाहिं मरकट भागि । तहँ बरत देखहिं आगि ॥

—लंका, १०१

भय ! किन्तु यह तो भय का स्फुट रूप रहा, जो कहीं कहीं रण-भूमि में दिखाई दिया और कल्पित आग के कारण भड़क उठा है। उधर लंका में जो सच्ची आग लगी है वह किसी दावाग्नि से कम नहीं है। वहाँ की स्थिति तो और भी भयंकर है। देखिये कैसा हाहाकार है—

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबकारी देत,
जरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी,
ढोटे छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे॥

हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिप वृषभ छोरो,
छेरी छोरो, सोवै सो जगावो जागि जागि रे।
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
बार बार कह्यो पिय कपि सो न लागि रे॥

—कवितावली, सुंदर, ६

किन्तु यह पुकार उस व्यापक भय के सामने कुछ कर न सकी और हुआ यह कि—

'लागि लागि आगि', भागि भागि चले जहाँ जहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे, धूम धुंध अंध;
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
तात तात! तौंसियत झौंसियत झारहीं॥

—वही, १५

परन्तु जायँ तो कहाँ जायँ। भय की आकुलता में चारों ओर वानर ही वानर तो दिखाई देता है—

बीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति,
पँवरि पागार प्रति बानर बिलोकिये।
अध ऊर्द्ध बानर, बिदिसि दिसि बानर है,
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिये॥
मूदे आँख हीय में, उघारे आँख आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ तहाँ और कोऊ को किए?
लेहु अब लेहु, तब कोउ न सिखाओ मानो,
सोइ सतराइ जाइ जाहि जाहि रोकिए॥

—वही, १७

रावण सा वीर पुरुष इस भयावह दृश्य से विचलित नहीं होता और क्रोध कर 'प्रलय-पयोद' को आज्ञा देता है—

कोपि दसकंध तब प्रलय पयोद बोले,
रावन रजाइ धाइ आये जूथ जोरि कै।
कह्यो लंकपति 'लंक बरत बुझाओ वेगि,
बानर बहाइ मारौ महा बारि बोरि कै॥'
'भले नाथ' नाइ माथ चले पाथप्रदनाथ,
बरषैं मुसलधार बार बार घोरि कै।
जीवन तें जागी आगी, चपरि चौगुनी लागी,
तुलसी भभरि मेघ भागे मुख मोरि कै॥

—वही, १६

क्रोध, उत्साह और भय का कैसा लगाव है, यह तो विदित हो गया और यह भी स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार तुलसी ने इन तीनों को सहायक और स्वतंत्र रूप में लिया; परन्तु अभी वीर रस का कोई विशेष रूप सामने नहीं आया। मुनि वेप में वह आया था अवश्य, पर वह उग्र और वाग्वीर ही निकला। उसका उत्साह क्रोध ही में जाता रहा। फिर क्रोध रावण के रूप में दिखाई दिया और वह अन्त समय तक संग्राम में डटा रहा। क्रोध में उत्साह होता ही है। कायर क्रोध भी कहाँ कर पाते हैं? निदान देखना अब यह है कि तुलसीदास ने उत्साह को कैसा निभाया है। सो कहना नहीं कि 'मानस' में उत्साह का अभाव नहीं। नायक का कहना है क्या, प्रतिनायक भी उससे कूट कूट कर भरा है। हताश होना वह जानता ही नहीं। यहाँ तक कि मरते समय तक उसकी वाणी यही गरजती है कि राम कहाँ है! उसे ललकार कर मारूँ। रामचरितमानस में जिसका चरित गाया गया है वह धर्मवीर भी है, दानवीर भी, दयावीर भी है, युद्धवीर भी। यदि नहीं है तो केवल वाग्वीर,

किन्तु मानस में वाग्वीरता भी बहुत है। युद्ध की अपेक्षा वाग्युद्ध ही अधिक है—उसकी रचना भी संवाद के रूप में ही हुई जो है।

वीरता के सभी रूपों को दिखाने से कोई लाभ नहीं। संक्षेप में यही जान लीजिये कि —

जब रघुबीर पयानो कीन्हों।
छुभित सिंधु, डगमगत महीधर, सजि सारँग कर लीन्हों।
सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि।
जटापटल ते चली सुरसरी सकत न संभु सँभारि।
भए बिकल दिगपाल सकल, भय भरे भुवन दसचारि।
खरभर लंक, ससंक दसानन, गर्भ स्रवहिं अरि-नारि।
कटकटात भट भालु बिकट मरकट करि केहरि-नाद।
कूदत करि रघुनाथ-सपथ उपरी-उपरा बदि बाद।
गिरि-तरुधर नख मुख कराल रद कालहु करत बिषाद।
चले दस दिस रिसि भरि, धरि धरु कहि, को बराक मनुजाद।
पवन पंगु, पावक पतंग ससि दुरि गए, थके बिमान।
जाचत सुर निमेष, सुरनायक नयन-भार अकुलान।
गए पूरि सरधूरि, भूरि भय अग थल जलधि समान।
नभ निसान हनुमान हाँक सुनि समुझत कोउ न अपान।
दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धरि धीर।
बारहिं बार अमरपत करपत करकैं परीं सरीर।
चली चमू, चहुँ ओर सोर, कछु बनै न बरनै भीर।
किलकिलात, कसमसत, कोलाहल होत नीरनिधि तीर।
जातुधान-पति जान कालबस मिले बिभीषन आइ।
सरनागत-पालक कृपालु कियो तिलक, लियो अपनाइ।
कौतुकहीं बारिधि बँधाइ उतरे सुबेल तट जाइ।
तुलसिदास गढ़ देखि फिरे कपि प्रभु आगमन सुनाइ॥
—गीतावली सुंदरकांड, २२

रघुवीर की सेना का पयान जैसा कुछ रहा, उसका आतंक ब्रह्मांड में छा गया। जब सन्धि की बात निष्फल हो गई तब —

बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होहिं भटन मन चाऊ॥
बाजहिं भेरि नफीरि अपारा। सुनि कादर उर जाहिं दरारा॥
देखेंनि जाइ कपिन्ह के ठट्टा। अति बिसाल तनु भालु सुभट्टा॥
धावहिं गनहिं न अवघट घाटा। परबत फोरि करहिं गहि बाटा॥
कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥
उत रावन इत राम दोहाई। जयति जयति जय परी लराई॥
निसिचर सिखर समूह ढहावहिं। कूदि धरहिं कपि फेरि चलावहिं॥
धरि कुधर खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़ पर डारहीं।
झपटहिं चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि प्रचारहीं॥
अति तरल तरुन प्रताप तरपहिं तमकि गढ़ चढ़ि चढ़ि गए।
कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ राम जसु गावत भए॥
एक एक निसिचर गहि, पुनि कपि चले पराइ।
ऊपर आपुनु हेठ भट, गिरहिं धरनि पर आइ॥

—लंका, ४१

इन भटों की विशेषता अपनी अपनी वीरता के साथ दृष्टिपथ में न आ रही हो तो रामचरितमानस का मनन ध्यान से करें और यह जान लें कि तुलसी की दृष्टि यहाँ भी कैसी पैनी है। यहाँ केवल हनुमान का युद्ध लें और देखें यह कि —

हाथिन सों हाथी मारे, घोरे घोरे सों सहारे,
रथनि सों रथ बिदरनि बलवान की।
चंचल चपेट चोट चरन चकोट चाहैं,
हहरानी फौजैं भहरानी जातुधान की॥
बार बार सेवक सराहना करत राम,
तुलसी सराहै रीति साहेब सुजान की।

लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट,
देखौ देखौ, लखन, लरनि हनुमान की॥

—कवितावली, लंका, ४०

राम, लक्ष्मण और हनुमान के संहारने में क्या भेद है, यह भी एक घनाक्षरी से व्यक्त हो जाता है। कहते हैं—

अंग अंग दलित ललित फूले किंसुक से,
हने भट लाखन लषन जातुधान के।
मारि कै पछारे कै उपारि भुजदंड चंड,
खंड खंड डारे ते बिदारे हनुमान के।
कूदत कबंध के कदंब बंब सी करत,
धावत दिखावत हैं लाघौ राघौ बान के
तुलसी महेस, बिधि, लोकपाल, देवगन,
देखत बिमान चढ़े कौतुक मसान के।

—वही, लंका, ४८

इस मसान में जो कुछ हो रहा है, उसकी चर्चा आगे आ रही है। यहाँ इतना और भी कह देना है कि तुलसीदास ने जो कुछ जिस किसी की वीरता में लिखा है वह बहुत कुछ सोच समझ कर ही। कहना चाहें तो यहाँ तक कह सकते हैं कि उन्होंने जो कुछ लिखा है अपनी आंखों देख कर लिखा है। उसका अध्ययन करने से आप ही अवगत हो जाता है कि नर, वानर, भालू और राक्षस की युद्ध-कला में क्या भेद है और किसका उत्साह कब कैसा रूप पकड़ता अथवा रंग दिखाता है। तुलसी ने गीतावली में हनुमान के जिस उत्साह को दिखाया है वह और भी साहस और संकल्प से परिपूर्ण है। समय भी कैसी विपत्ति का है। लक्ष्मण को शक्ति लगी है। सूरज निकला नहीं कि उनका अन्त हुआ। उपाय है, पर सहज नहीं। निदान

हनूमान का उद्घोष है —

जौं हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं।
भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यौं सबहि को पापु बहावौं।
तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसीप्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं॥

—गीतावली, लंका, ८

सारांश यह कि तुलसीदास ने वीर-रस के वर्णन में भी सच्ची सफलता प्राप्त की है और उत्साह को भी सभी प्रकार से व्यापक बनाने की पूरी चेष्टा की है। उनका यह प्रयास परम प्रशंसा का पात्र है।

हाँ, तो रण-भूमि में जो कांड मचता है उसमें वीरों को आनन्द तो तभी तक आता है जब तक वे उसके अंग बने रहते हैं; परन्तु कुछ ऐसी योनियाँ भी हैं, जिनको यही अवसर परम प्रिय होता है और रण-भूमि की रक्तमयी धारा ही उनके आनन्द की धारा होती है। इसी अवसर पर जोगिनी, भुटुंग आदि का उल्लेख कर कवि लोग वीभत्स रस दिखाना चाहते हैं। तुलसीदास ने ऐसा तो किया ही है, किन्तु इसके साथ ही साथ कुछ और भी दिखाया है। देखिए, मेघनाद की माया से रण-भूमि में कैसा दृश्य उपस्थित हो जाता है;—

नभ चढ़ि बरसहिं बिपुल अँगारा। महि तें प्रगट होहिं जलधारा॥
नाना भाँति पिसाच पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥
बिष्ठा पूय रुधिर कच हाड़ा। बरषै कबहुँ उपल बहु छाड़ा॥

बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा॥
कपि अकुलाने माया देखें। सब कर मरनु बना एहि लेखें॥

—लंका, ५२

और इधर भूत-पिशाच भी रण-भूमि में राम की कृपा से कैसा उत्सव मना रहे हैं —

मज्जहिं भूत पिसाच बिताला। प्रथम महा झोटिंग कराला॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं॥
एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई॥
कहरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहुँ अर्धजल परे॥
खैंचहिं गीध आँत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए॥
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं॥
जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं॥
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं॥
जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं॥

—लंका, ८८

ऐसे महोत्सव में भला भूतनाथ योग न दें और किसी तापसी का कोई तप भी न सधे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? निदान —

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेली बाँधे,
मूड के कमंडलु, खपर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,
तीर तीर बैठीं सो समर-सरि खोरि कै॥
सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ,
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥

—कवितावली, लंका, ५०

भूतनाथ की हँसी बेतुकी होती है। कहते हैं, रुद्र ही ने हनुमान का रूप धारण किया था। हनुमान की वीरता और हर की हँसी को एक साथ ही देखना हो तो इस घनाक्षरी को ले लें—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड वीर,
धाये जातुधान हनुमान लियो घेरि कै।
महाबल-पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटकै लँगूर फेरि फेरि कै।
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहैं 'तुलसीस राखि रामकी सौं' टेरि कै।
ठहर-ठहर परे कहरि कहरि उठैं,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरि कै।

—वही, लंका, ४२

हास में रुदन और रुदन में हास होता ही है। अतएव रामचरितमानस में इस प्रकार के हास का अभाव नहीं। प्राय: हम देखते हैं कि जब कहीं विषाद छा जाता है तब कहीं किसी को हर्ष भी होता है। देवताओं को हर्ष तो अवध के विषाद में ही होता है। अतएव इस प्रकार के हास के सम्बन्ध में अधिक न कह देखना यह चाहिये कि तुलसी ने दूसरी ओर मृदुल हास को कैसे चित्रित किया है। राम के प्रसंग में निषाद को छोड़ जाना कभी ठीक नहीं हो सकता। निषाद की भावभरी भोली वाणी में राम को जो रस मिलता है वह हँसी में फूटे बिना रह नहीं सकता। देखिये—

रावरे दोष न पायन को पग धूरि की भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन ते बन-बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है॥
पावन पायँ पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥

—कवितावली, अयोध्या, ७

केवट के 'बर बैन' में जो भाव भरा था, वह आगे चलकर किसी और रूप ही में प्रकट हुआ और फलतः राघव को भी 'हहा' के स्थान पर 'हेरि हेरि' हँसना पड़ा —

प्रभु रुख पाइ कै बुलाइ बाल घरनिहिं,
बंदि कै चरन चहुँ दिसि बैठे घेरि घेरि।
छोटो सो कठौता भरि आनि पानि गंगाजू को,
धोइ पाँय पीयत पुनीत बारि फेरि फेरि॥
तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि।
बिबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनि,
हँसे राघौ जानकी लषन तन हेरि हेरि॥

—वही, १०

राघव की इस हँसी को भूतनाथ की उस हँसी से मिलाकर देखिये तो पता चले कि पालन और संहार की हँसी में कैसा भेद होता है और यदि विष्णु और महादेव के हास को साथ साथ देखना हो तो पार्वती-मंगल अथवा शिव-विवाह को ले लीजिये। वहाँ शिव की बारात को देखकर सुर भी हँसते हैं और सुरत्राता विष्णु भी। ऐसी स्थिति में —

बिष्णु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज॥
बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥
बिस्नु बचन सुनि सुर मुसकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने॥
मन ही मन महेस मुसकाहीं। हरि के बिंग्य बचन नहिं जाहीं॥

—बाल, ९८

यहाँ भी भूतनाथ को अपने समाज की सूझी तो उन्होंने अपने गणों को टेरा और परिणाम यह हुआ कि —

नाना बाहन नाना बेषा। बिहँसे सिव समाज निज देखा॥

कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्ट पुष्ट कोउ अति तन खीना॥
तन खीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तन भरे॥
खर स्वान सुअर शृकाल मुख गन वेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥
नाचहिं गावहिं गीत, परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत, बोलहिं बचन विचित्र बिधि॥

—बालकांड, ६८

यह बारात जब नगर के निकट पहुँची और अगवानी होने को चली तब—

हिय हरषे सुर सैन निहारी। हरिहिं देखि अति भए सुखारी॥
सिव समाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥
धरि धीरजु तहँ रहे सयाने। बालक सब लइ जीव पराने॥
गए भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भय कंपित गाता॥
कहिअ कहा कहि जाइ न बाता। जम कर धारि किधौं बरिआता॥
बरु बौराह बसह असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा॥
तन छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकट मुख रजनीचरा॥
जो जियत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखहि सो उमा बिवाह घर घर बात असि लरिकन्ह कही॥
समुझि महेस समाज सब जननि जनक मुसुकाहिं।
बाल बुझाए बिबिध बिध निडर होहु डर नाहिं॥

—बालकांड, १००

एक ही आलम्बन से किसी के हृदय में भय और किसी के हृदय में हर्ष का संचार कैसे होता है, इसका यह दिव्य उदाहरण

है। बालकों का भयभीत होना कितना स्वाभाविक है। बच्चों को डराकर आनन्द लूटनेवाले आज भी न्यून नहीं। इसके अतिरिक्त हास्य रस का यदि पूरा परिपाक देखना हो तो नारद-मोह-लीला को ले लीजिये। शीलनिधि राजा की विश्व-मोहिनी राजकुमारी कन्या को देखकर नारद सोचते हैं—

जप तप कछु न होहि येहि काला। हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला॥

और नारद को जो बिधि सूझी भी तो—

जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप अहमिति अधिकाई॥
तहँ बैठे महेस गन दोऊ। बिप्र बेस गति लखै न कोऊ॥
करहिं कूट नारदहिं सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई॥
रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी। इन्हहिं बरिहि हरि जानि बिसेखी॥
मुनिहिं मोह मन हाथ पराएँ। हँसहिं संभुगन अति सचु पाएँ॥

—बालकांड, १३१

हास का परिणाम प्रायः दुःख ही होता है। नारद का इस स्वयंवर में जो उपहास हुआ उसका फल यह निकला कि उनके हृदय में क्रोध उत्पन्न हुआ और रमापति के 'मुनि कहँ चले बिकल की नाईं' पर तो वही बरस पड़ा। हास के उपरान्त रौद्र का ऐसा रंग और कहाँ है? इसके विभाव भी तो अनुपम ही हैं। रमापति और उनकी लीला। हास और उपहास के साथ ही परिहास भी चला करता है और तुलसीदास ने उसको दिखाने में भी कुछ चूक नहीं की है। गोस्वामीजी ने अहिल्या के प्रसंग पर जहाँ कहीं जो कुछ लिखा है, बड़े चाव से लिखा है। परिहास के प्रसंग में भी कहते हैं—

सिला छोर छुवत अहिल्या भई दिव्य देह,
गुन पेखे पारस के पंकरुह पाय के।
राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भए,
रावरेहु सतानन्द पूत भये माय के।

प्रेम परिहास पोख वचन परसपर,
कहत सुनत सुख सबही सुभाय के।
तुलसी सराहैं भाग कौसिक जनक जू के,
बिधि के सुढर होत सुढर सुदाय के॥

—गीतावली, बाल, ६५

और यदि इसे स्वयं दशरथ के घर में देखना हो तो 'नाउनि' के इस कथन को लीजिये—

काहे राम जिउ साँवर, लछिमन गोर हो।
की दहुँ रानी कौसिलहि परिगा भोर हो।
राम अहहिं दसरथ कै, लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्रीरघुनाथ क हो।

—रामलला नहछू, १२

हास का एक दूसरा रूप भी होता है जो बड़ी से बड़ी बात को नगण्य कर दिखाने में प्रकट होता है। तुलसीदास ने एक स्थल पर इसके इस रूप को भी दिखा दिया है और यह भी बता दिया है कि वस्तुतः राम और रावण में करने और कहने का भेद है। विभीषण की अभिमान भरी बात को सुनकर राम ने जो कुछ किया यह था—

प्रभु मुसुकाग समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना।

छत्र मुकुट ताटंक तब, हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे, मरमु न कोऊ जान॥
अस कौतुक करि राम सर, प्रविसेउ आइ निषंग।
रावन सभा ससंक सब, देखि महा रस भंग॥

कंप न भूमि न मरुत बिसेखा। अस्त्र सस्त्र कछु नयन न देखा॥
सोचहिं सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी॥

दसमुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई॥
सिरौ गिरे संतत सुभ जाही। मुकुट परे कस असगुन ताही॥
—लंका, १४

राम की 'मुसुकान' और रावण की 'विहँसनि' में यही तो भेद है। रावण हँसी में वहुत सी बातों को टाल जाता है और मन्दोदरी की सीख भरी पते की बातों को विनोद का रूप दे हवा में उड़ा देता है; पर राम की 'मुसुकान' भी कुछ कर दिखाती है। हास के साथ आश्चर्य और भय का दर्शन भी यहाँ कुछ हो जाता है। किन्तु यदि विविध भावों से भरे हास को देखना हो तो तुलसी के 'बावरो रावरो नाह भवानी' को देखें। कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन, देत दए बिनु, बेद बड़ाई भानी॥
निज घर की बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई सम्पदा देखत श्रीसारदा सिहानी॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयों नकबानी॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहि, भीख भली मैं जानी॥
प्रेम प्रसंसा बिनय ब्यंग जुत सुनि बिधि की बर बानी।
तुलसी मुदित महेस, मनहिं मन जगत मातु मुसकानी॥
—विनय, ५

सब तो हुआ, पर तुलसी का वह पद अभी सामने नहीं आया जिसमें उन्होंने विन्ध्य के उदासियों को आड़े हाथों लिया है और हास का गहरा हाथ दिखाया है। कैसी फबती में कहते हैं—

बिन्ध्य के बासी उदासी तपोब्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥

ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

—कवितावली, अयोध्या, २८

हास की दृष्टि से हास्य का जो विचार हुआ उसमें हर्ष का सच्चा उल्लास अभी तक देखने में नहीं आया। विजय में जो प्रसन्नता होती है वह जैसी वानरों में दिखाई देती है वैसी नरों में नहीं। तुलसीदास हनुमान को बहुत कुछ समझते हैं और उनकी राम-काज में प्रथम सफलता को देख कर बानरों को जो हर्ष होता है उसकी कैसी सजीव व्यंजना करते हैं—

गगन निहारि किलकारी भारी सुनि,
हनुमान पहिचानि भये सानँद सचेत हैं।
बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाज, मानो
आजु जाये जानि सब अंकमाल देत हैं॥
जै जै जानकीस, जै जै लषन कपीस कहि,
कूदैं कपि कौतुकी, नचत रेत रेत हैं।
अंगद मयंद नल नील बलसील महा,
बालधी फिरावैं, मुख नाना गति लेत हैं।

—कवित्त, सुन्दर, २६

इस हर्ष को संचारी कहना ठीक नहीं और यदि यह संचारी है तो इसका स्थायी क्या है? कहा जा सकता है—रति। इसमें सन्देह नहीं कि रति का क्षेत्र बहुत व्यापक है और सच पूछिए तो एक शम को छोड़कर सभी भावों में रति का का कोई न कोई योग रहता ही है। शम अथवा निर्वेद का रति से विरोध हो सकता है और जुगुप्सा का भी। कदाचित् यही कारण है कि निर्वेद के पहले जुगुप्सा उत्पन्न की जाती है। निर्वेद और जुगुप्सा के अतिरिक्त शोक भी स्वतंत्र भाव है, किन्तु वह तभी होता है। जब रति की पुष्टि में बाधा पड़ती है और उसका आलंबन नष्ट

हो जाता अथवा अनिष्ट में घिर जाता है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रति ही वस्तुतः हृदय का मुख्य भाव है, इतर भाव उसमें क्षोभ के कारण उत्पन्न होते हैं। इस भाव का क्षेत्र बहुत व्यापक है, पर इसका रस-परिपाक उतना व्यापक नहीं हो पाता। रति-भाव का रस शृंगार होता है, किन्तु शृंगार केवल दम्पति-रति के परिपाक में ही रहता है, इतर रति के परिपाक में नहीं। इसी कारण कुछ लोग तो अन्य रतियों के आधार पर वात्सल्य और भक्ति-रस का भी विभेद करते हैं और कुछ लोग उनको भाव तक ही रहने देते हैं। उनमें रस की सिद्धि नहीं मानते। जो हो, इतना तो मानना ही होगा कि रस-मीमांसा में जितना रस की निष्पत्ति पर विचार हुआ है उतना क्या, उसका शतांश भी रसों और भावों के नामकरण पर नहीं। हमारी दृष्टि में हास हृदय का कोई भाव नहीं, हृदय के भाव का का व्यंजक मात्र है। कदाचित् यही कारण है कि हम इसकी व्यंजना के द्वारा अपने हृदय के भाव को छिपाते अथवा कुछ अन्यथा ही कर दिखाते भी हैं। यदि यह भाव होता तो हम इसके द्वारा आसानी से ऐसा कर नहीं पाते। हमारी दृष्टि में भाव तो हर्ष ही है और यह संचारी भाव माना भी जाता है। हर्ष का थोड़ा बहुत अनुभव सभी लोगों को है ही, जिसके आधार पर सभी लोग कह सकते हैं कि हर्ष संचरण ही नहीं करता, वह स्थायी भी होता है। सच तो यह है कि चित्त तटस्थ दशा में बहुत ही कम रह पाता है। वह तो सदा हर्ष और विषाद में से किसी एक का होकर ही रहता है और यही उसका होना सुख-दुःख का विधायक होता है। अतएव हर्ष को स्थायीन मानना ठीक नहीं। हास को तो हम अनुभाव समझते हैं। स्मरण रहे, रुदन कोई भाव नहीं, और है तो अनुभाव ही, फिर हास की गणना क्यों भाव में की जाय?

हर्ष और विषाद की मिली हुई स्थिति आश्चर्य में

है। आश्चर्य में आलम्बन की विशेषता होती है और उसके कार्य की भी। अद्भुत रस अद्भुत ही होता है, उसमें चित्त की दशा भी अद्भुत होती है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के अद्भुत चरित में अद्भुत रस की व्यंजना भरपूर की है। इसके अनेक अवसर 'मानस' में आये हैं, जिनमें सर्व प्रथम सती का मोह है और इसका अन्त है कागभुसुंडि के मोह में। इसके अतिरिक्त स्फुट प्रसंगों में भी अद्भुत रस दिखाया गया है, किन्तु इस रस का समुचित परिपाक राम के अद्भुत चरित में ही हुआ है। इस अद्भुत चरित को देख कर सती की स्थिति यह हो जाती है कि

हृदय कम्प तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठी मग माँहीं॥
बहुरि बिलोक्यो नैन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छ कुमारी॥

—बाल, ६०

और भुसुंडि की दशा यह —

देखि चरित यह सो प्रभुताई। समुझत देह दसा बिसराई॥
धरनि परेउ मुख आव न बाता। त्राहि त्राहि आरत जन त्राता॥

—उत्तर, ८३

सारांश यह कि अति अद्भुत से त्रास ही उत्पन्न होता है, कुछ हास नहीं। अद्भुत की भावना किंकर्तव्यविमूढ की भावना है, पर उस प्राणी के लिये जो उसको देखता है। सामाजिकों को तो इसमें भी आनन्द ही आता है। हमारी बुद्धि में जो बात नहीं धँसती और हम जिसको ठीक ठीक नहीं समझ पाते वही तो हमारे विस्मय का कारण और हमारी मति में विचित्र होती है। अस्तु, इस अद्भुत का वर्णन कवि ने अन्य रूपों में भी किया है। हनुमान के पराक्रम में इसके दर्शन प्रायः हो जाते हैं। उनकी शिशु-लीला को लीजिये और देखिये यह कि इस छोटी सी अवस्था में ही वे कैसा अनुपम कार्य कर

दिखाते हैं —

भानु सों पढ़न हनुमान गये भानु, मन
अनुमानि सिसुकेलि कियो फेर फार सो।
पाछिले पगनि गम गगन मगनमन,
क्रम को न भ्रम, कपि-बालक-बिहार सो।
कौतुक बिलोकि सुरपाल हरि हर बिधि,
लोचननि चकाचौंधी चित्तनि खँभार सो।
बल कैधौं बीररस, धीरज कै, साहस, कै,
तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो॥

—हनुमानबाहुक, ४

एवं प्रौढ होने पर —

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलम्ब न लायो।
मारुतनन्दन मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो, पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

—कवितावली, लंका, ५४

गोस्वामी तुलसीदास ने राम के शील और सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिये भी इस रस से विशेष काम लिया है। राम मृगया खेल रहे हैं, फिर भी मृग भागते नहीं, प्रत्युत उनको देखते ही रह जाते हैं —

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग, चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रति नायक है॥

—अयोध्या, २७

राम के अलौकिक कर्मों को देखकर माता कौशल्या को सहसा विश्वास नहीं होता। वह आश्चर्य के साथ राम से पूछती

हैं कि तुमने ऐसा अनुपम कार्य कैसे कर डाला—

भुजान पर जननी वारि फेरि डारी।
क्यों तोर्‌यौ कोमल कर-कमलनि संभु सरासन भारी !
क्यों मारीच सुबाहु महाबल प्रबल ताडका मारी !
मुनि-प्रसाद मेरे राम लपन की बिधि बड़ि करवर टारी ॥
चरन रेनु लै नयननि लावति, क्यों मुनि बधू उधारी।
कहौ धौं तात, क्यों जीति सकल नृप बरी है बिदेह कुमारी ॥
दुसह-रोप-मूरति भृगुपति अति नृपति-निकर-खयकारी।
क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय, करी है बहुत मनुहारी ॥
उमँगि उमँगि आनन्द बिलोकति बधुन सहित सुत चारी ॥
तुलसिदास आरती उतारति प्रेम-मगन महतारी ॥

—गीतावली, बाल,

गोस्वामी तुलसीदास ने वात्सल्य को जिस रूप में लिया है उसको कुछ दिखाने के पहले यह बता देना चाहिये कि तुलसीदास ने विनयपत्रिका में शान्त रस को विविध पदों में व्यक्त किया है। 'विनयपत्रिका' वास्तव में शान्त रस का ही ग्रन्थ है। शान्त रस की जैसी धारा विनयपत्रिका में वही हैं वैसी हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं। संस्कृत की 'स्तुति कुसुमांजलि' से तुलसीदास प्रभावित अवश्य हुए हैं, परन्तु तुलसीदास की पहुँच वहीं तक सीमित नहीं रही है। तुलसीदास ने को 'कुसुमांजलि' 'विनयपत्रिका' का रूप दिया है और उसे ठीक ठीक घटा भी दिया है। हास के प्रसंग में यह दिखाया गया था कि 'विनयपत्रिका' में हास्य रस भी है। हास्य ही क्यों सभी रस जहाँ-तहाँ कुछ न कुछ दिखाई दे जाते हैं। उनका 'केसव कहि न जाय का कहिये' तो अद्भुत रस के लिये प्रमाण ही माना जाता है और और भी बहुत से पद ऐसे हैं जिनमें अन्य भावों को दिखाया गया है, किन्तु जो भाव सदा

दिखाते हैं —

भानु सों पढ़न हनुमान गये भानु; मन
अनुमानि सिसुकेलि कियो फेर फार सो।
पाछिले पगनि गम गगन मगनमन,
क्रम को न भ्रम, कपि-बालक-बिहार सो।
कौतुक बिलोकि सुरपाल हरि हर बिधि;
लोचननि चकाचौंधी चित्तनि खँभार सो।
बल कैधौं बीररस, धीरज कै, साहस, कै,
तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो॥

—हनुमानबाहुक, ४

एवं प्रौढ होने पर —

लीन्हों उखारि पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलम्ब न लायो।
मारुतनन्दन मारुत को, मन को, खगराज को बेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो, पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

—कवितावली, लंका, ५४

गोस्वामी तुलसीदास ने राम के शील और सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिये भी इस रस से विशेष काम लिया है। राम मृगया खेल रहे हैं, फिर भी मृग भागते नहीं, प्रत्युत उनको देखते ही रह जाते हैं —

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग, चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रति नायक है॥

—अयोध्या, २७

राम के अलौकिक कर्मों को देखकर माता कौशल्या को सहसा विश्वास नहीं होता। वह आश्चर्य के साथ राम से पूछती

हैं कि तुमने ऐसा अनुपम कार्य कैसे कर डाला —

भुजनि पर जननी वारि फेरि डारी।
क्यों तोर्‌यौ कोमल कर-कमलनि संभु सरासन भारी!
क्यों मारीच सुबाहु महाबल प्रबल ताडका मारी!
मुनि-प्रसाद मेरे राम लपन की बिधि बड़ि करवर टारी॥
चरन रेनु लै नयननि लावति, क्यों मुनि बधू उधारी।
कहौ धौं तात, क्यों जीति सकल नृप बरी है बिदेह कुमारी॥
दुसह-रोप-मूरति भृगुपति अति नृपति-निकर-खयकारी।
क्यों सौंप्यो सारंग हारि हिय, करी है बहुत मनुहारी॥
उमँगि उमँगि आनन्द बिलोकति बधुन सहित सुत चारी॥
तुलसिदास आरती उतारति प्रेम-मगन महतारी॥

—गीतावली, बाल, १०७

गोस्वामी तुलसीदास ने वात्सल्य को जिस रूप में लिया है उसको कुछ दिखाने के पहले यह बता देना चाहिये कि तुलसीदास ने विनयपत्रिका में शान्त रस को विविध पदों में व्यक्त किया है। 'विनयपत्रिका' वास्तव में शान्त रस का ही ग्रन्थ है। शान्त रस की जैसी धारा विनयपत्रिका में बही है वैसी हिन्दी साहित्य में अन्यत्र नहीं। संस्कृत की 'स्तुति कुसुमांजलि' से तुलसीदास प्रभावित अवश्य हुए हैं, परन्तु तुलसीदास की पहुँच वहीं तक सीमित नहीं रही है। तुलसीदास ने को 'कुसुमांजलि' 'विनयपत्रिका' का रूप दिया है और उसे ठीक ठीक घटा भी दिया है। हास के प्रसंग में यह दिखाया गया था कि 'विनयपत्रिका' में हास्य रस भी है। हास्य ही क्यों सभी रस जहाँ-तहाँ कुछ न कुछ दिखाई दे जाते हैं। उनका 'केसव कहि न जाय का कहिये' तो अद्भुत रस के लिये प्रमाण ही माना जाता है और और भी बहुत से पद ऐसे हैं जिनमें अन्य भावों को दिखाया गया है, किन्तु जो भाव सदा

आदि से अन्त तक बना रहता है वह निर्वेद ही है। उनका मूल उपदेश है —

लाभ कहा मानुष तन पाये।
काय, बचन, मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराए॥
जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाये।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये॥
पर-दारा, पर-द्रोह, मोहबस कियो मूढ़ मन भाए।
गरभबास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसराए॥
भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जग जाए।
सुर दुरलभ तनुधरि न भजे हरि, मद अभिमान गवाए॥
गई न निज-पर-बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम-लय लाए।
तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछताए?

—विनय,

और उसका खरा निश्चय है—

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै॥
जेहि सुभायँ बिषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करि
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक तें नहिं टा
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित कलि कुचाल परिहा
प्रभु-गुन सुनि मन हरपिहै, नीर नयननि ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनँद उमगि उर भ

—वही,

जिससे कहने को जी तो यही चाहता है कि विनयप में निर्वेद की प्रधानता होने पर भी उसकी इति राम-रति में होती है और यह इसी का परिणाम है कि 'विनयप काव्य की ऐसी सरस रचना मानी जाती है और कुछ लो

उसको तुलसीदास का सर्वश्रेष्ठ काव्य ही मानते हैं। औरों की भक्ति के बारे में चाहे जो कहा जाय पर तुलसी की भक्ति राम में वही थी जो किसी प्राकृत जन की किसी प्राकृत व्यक्ति में होती है। गोस्वामीजी दृष्टि में प्राकृत राम ही परब्रह्म भी थे। अतः उनके सम्बन्ध में वैसा विवाद नहीं उठ सकता जैसा प्रायः अन्य भक्तों के प्रसंग में उठा करता है। कदाचित् यही कारण है कि कतिपय आचार्य देवविषयक 'रति' को स्वतन्त्र स्थान दे भक्ति नाम का एक अलग रस ही मान लेते हैं। कुछ भी हो 'विनय' में निर्वेद का राज्य है, इसमें सन्देह नहीं।

हाँ, तुलसी का वात्सल्य सूर के सामने दब जाता है। यहाँ सूर का सामना विश्व का कोई कवि नहीं कर सकता, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी का वात्सल्य अच्छा नहीं और सूर के सामने उसकी कोई विशेषता नहीं। सूर ने भी कृष्ण के वियोग को लिया है, पर राम के वियोग में माता कौशल्या की जो स्थिति होती है उसके सामने यशोदा की वेदना छूछी पड़ जाती है। तुलसी का करुण वात्सल्य अपूर्व है और है पिता का प्राणलेवा भी। उसके कई पद पहले भी आ चुके हैं, अतः यहाँ संक्षेप में बताया यह जाता है कि तुलसी ने भुसुंडि के द्वारा जो राम के बालरूप का दर्शन कराया है वह किसी सूर से कम नहीं। कहते हैं —

अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥
कंध बाल केहरि दर ग्रीवाँ। चारु चिबुक आनन छबि सीवाँ॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससिकर सम हासा॥
नील कंज लोचन भव मोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥
बिकट भृकुटि सम स्रवन सुहाए। कुंचित कच मेचक छबि छाए॥

पीत झीन झिगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥
मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीडा। बरनत मोहिं होति अति ब्रीडा॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलौं भागि तब पूप देखावहिं॥

आवत निकट हँसहिं प्रभु, भाजत रुदन कराहिं।
जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितै पराहिं॥

—उत्तर, ७७

कहने को तो रामचरितमानस में भी एक बालकांड है परन्तु उसमें बालभाव का विस्तार न हो कर बालचरित का वर्णन ही विशेष हुआ है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में माता कौशल्या के साथ राम की बाललीला को थोड़ा सा दिखा दिया है और फिर उनको रंगभूमि में ला खड़ा करने का यत्न किया है जिससे सूर की भाँति उन्हें बाल-केलि का व्यापक क्षेत्र नहीं मिला है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यहाँ माता का हृदय नहीं खुला है। नहीं, मैना के विलाप पर ध्यान तो दीजिये। सुनिये क्या कहती है —

कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहि तुम्हहि सुंदरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई॥
तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महँ परौं।
घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं॥

सच है, माता सब कुछ कह सकती है, पर सन्तान का कष्ट नहीं देख सकती। उधर सीता की माता ऐसे ही अवसर पर कुछ और ही सोचती हैं। उन्हें यह अच्छा नहीं लगता कि कोमल बालकों से पिनाक उठाने को कहा जाय। 'ए बालक अस हठ भल नाहीं' में क्या नहीं भरा है? हाँ ये ही वे बालक हैं जो अवध में पिता दशरथ की गोद में जहाँ दिखाई देते हैं, वहीं

तुलसीदास की वत्सलता बोल उठती है —

अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच बिमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से॥
तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन सु खंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे॥
पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिये॥
अरबिंद सो आनन, रूप मरंद अनंदित लोचन-भृंग पिये।
मन मों न बस्यौ अस बालक जौ तुलसी जग में फल कौन जिये॥

—कवितावली, बाल, १-२

कीजियेगा क्या, राम गोपल नहीं कि कोई गोपी बोल उठे 'नेकु गोपालहिं मोकों दै री,' यहाँ तो बस दर्शन कीजिये और दूर से ही छवि निहार अपने जीवन को कृतकृत्य कीजिये —

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे, छवि भूरि अनंग की दूरि धरैं॥
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं॥

—वही, ३

और इतना जान लें कि —

पद कंजनि मंजु बनी पनहीं, धनुहीं सर पंकजपानि लिये।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं, सरजू तट चौहट हाट हिये॥
तुलसी अस बालक सों नहिं नेह, कहा जप जोग समाधि किये।
नर ते खर सूकर स्वान समान, कहौ जग में फल कौन जिये॥

—वही, ६

और यदि यहाँ कोई अभिलाष है तो यह —

ह्वैहौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया।
राम लषन भावते भरत रिपुदवन चारु चार्यो भैया।

बाल-विभूषन-बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं।
सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं।
छगन-मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुक ठुमुक कब धैहौ।
कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहिं बुलैहौ।
पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली।
लैहैं लोचन-लाहु सुफल लखि ललित मनोरथ-बेली।
जा सुख की लालसा लटू सिव, सुक सनकादि उदासी।
तुलसी तेहि सुख-सिंधु कौसिला मगन, पै प्रेम-पियासी॥

—गीतावली, बालकांड, ८

'प्रेमपियासी' कौशल्या का कलेजा किस वज्र का बना था कि वह राम-वियोग में भी जीती रही, इसका उल्लेख तो पहले हो चुका है, किन्तु अभी तक कहीं यह नहीं कहा गया है कि माता सुमित्रा का हृदय कितना कठोर है कि लखनलाल की चिन्ता न कर अपने लाड़ले शत्रुघ्न को खड़ा करती हैं और अवध में यह कांड उपस्थित हो जाता है कि पवनसुत हनुमान भी ग्लानि में गल जाते हैं। हृदय को कड़ा कर सुनिये वीर-माता का प्रसंग है। कहते हैं—

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामि-काज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं।
सुवन-सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं।
कपि सों कहति सुभाय अंब के अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं।
'तात ! जाहु कपि सँग' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं।
अंब-अनुज-गति लखि पवनज भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

—गीतावली, लंकाकांड, १३

माता के सचेत प्यार का परिणाम भी कितना सुखद होता है ! राम वन में स्वतंत्र थे, पर माता घर में भी परतंत्र थीं। तुलसी की वाणी का रस तो लीजिये। कैसा अभूत दृश्य उपस्थित है—

कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुररुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटी बचन मृदु बहु बिधि कहे।
गइ बिषम बिपति बियोग भव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥

—उत्तरकांड, ६

और कुछ चित्र स्थिर हुआ तो—

सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयन जल रोकहिं॥
कनक थार आरती उतारहिं। बार बार प्रभु गात निहारहिं॥
नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं॥
कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥
हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥
अति सुकुमार जुगल मम बारे। निसिचर सुभट महा बल भारे॥

लछिमन अरु सीता सहित, प्रभुहि बिलोकति मातु।
परमानंद मगन मन, पुनि पुनि पुलकित गातु॥

—उत्तरकांड, ७

बस इसी पुलक में माता का सर्वस्व है।

काव्य-कौशल

तुलसी की भाव-व्यञ्जना से यदि उनकी काव्य-कुशलता अभी तक न निखरी हो तो उनके इस प्रसंग को पढ़िए और देखिए कि इसमें किस प्रकार तुलसीदास ने भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के साथ ही साथ अलंकार और मानव-जीवन की व्याप्ति को व्यक्त किया है और यह भी प्रकट दिखा दिया है कि मानव का पशु से और पशु का मानव से कितना गहरा लगाव है और संसर्ग में बने रहने के कारण एक दूसरे को कहाँ तक और कितना प्रभावित करते हैं। मर्यादा के क्षेत्र में वर्ण की दृष्टि से चाहे निषाद और द्विज में जितना भेद हो, पर हृदय के व्यापार में उनमें कहीं कोई बन्धेज नहीं। हाँ, तो निषाद राम को पहुँचा कर वापस आ गया है और अब उसे सचिव की सुधि लेनी है। सचिव भी जैसे अब भी जानना चाहते हैं कि राम, लक्ष्मण और सीता ने किया क्या? आशा बलवती होती ही है। वह सहसा किसी का भी पिंड नहीं छोड़ती। निदान सचिव भी इसी आशा के आधार पर वहाँ टिके थे; किन्तु जब उन्होंने देखा कि उनकी अन्तिम आशा पर भी पानी फिर गया और अकेला निषाद ही उनके सामने आकर खड़ा हो गया, तब उनके विषाद का ठिकाना न रहा और —

राम राम सिय लखनु पुकारी। परेउ धरनि तल ब्याकुल भारी॥
देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जिमि बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं न पियहिं जलु, मोचहिं लोचन बारि।
ब्याकुल भयेउ निषाद सब, रघुबर बाजि निहारि॥

धरि धीरजु तब कहइ निषादू । अब सुमंत्र परिहरहु बिषादू ॥
तुम्ह पंडित परमारथ ग्याता । धरहु धीर लखि बाम बिधाता ॥
बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी । रथ बैठारेउ बरबस आनी ॥
सोक सिथिल रथु सकै न हाँकी । रघुबर बिरहु पीर उर बाँकी ॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे । बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे ॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे । राम बियोग बिकल दुख तीछे ॥
जो कह रामु लषनु बैदेही । हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही ॥
बाजि बिरह गति किमि कहि जाती । बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती ॥

भयउ निषादु बिषादु बस, देखत सचिव तुरंग ।
बोलि सुसेवक चारि तब, दिये सारथी संग ॥

गुह सारथिहिं फिरे पहुँचाई । बिरहु बिषादु बरनि नहिं जाई ॥
चले अवध लै रथहिं निषादा । होहिं छनहिं छन मगन बिषादा ॥
सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना । धिग जीवन रघुबीर बिहीना ॥
रहिहि न अंतहु अधमु सरीरू । जसु न लहेहु बिछुरत रघुबीरू ॥
भये अजस अघ भाजन प्राना । कवन हेतु नहिं करत पयाना ॥
अहह मन्द मनु अवसर चूका । अजहु न हृदय होत दुइ टूका ॥
मीजि हाथ सिरु धुनि पछिताई । मनहु कृपिन धन रासि गँवाई ॥
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई । चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥

बिप्र बिबेकी बेद बिद, संमत साधु सुजाति ।
जिमि धोखें मद पान कर, सचिव सोच तेहि भाँति ॥

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी । पति देवता करम मन बानी ॥
रहै करम बस परिहरि नाहू । सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू ॥
लोचन सजल डीठि भइ थोरी । सुनइ न स्रवन बिकल मति भोरी ॥
सूखहिं अधर लागि मुहँ लाटी । जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी ॥
बिबरन भयउ न जाइ निहारी । मारेसि मनहुँ पिता महतारी ॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी । जमपुर पंथ सोच जिमि पापी ॥

बचनु न आउ हृदय पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई॥
राम रहित रथ देखिहि जोई। सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई॥

धाइ पूछिहहिं मोहि जब, बिकल नगर नर नारि।
उतरु देब मैं सबहिं तब, हृदय बज्र बैठारि॥

पूछिहहिं दीन दुखित सब माता। कहब काह मैं तिन्हहिं बिधाता॥
पूछिहि जबहि लखन महतारी। कहिहौं कवन सँदेस सुखारी॥
राम जननि जब आइहि धाई। सुमिरि बच्छु जिमि धेनु लवाई॥
पूछत उतरु देब मैं तेही। गे बनु राम लखनु बैदेही॥
जोइ पूछिहि तेहि ऊतरु देबा। जाइ अवध अब यहु सुख लेबा॥
पूछिहि जबहिं राउ दुख दीना। जिवनु जासु रघुनाथ अधीना॥
देहौं उतरु कौन मुँह लाई। आयेउँ कुसल कुअँर पहुँचाई॥
सुनत लखन सिय राम सँदेसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू॥

हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि, येह जातना सरीरु।

—अयोध्या, १४२-४६

इसमें निषाद, सुमन्त्र और तुलसी की जो वार्ता है उसे अभी अलग ही रखिए। वह तो और भी गूढ है, पर पहले राम के हयों को देख लेने से उसकी गूढता भी आप ही पानी हो जायगी और फिर आप सम्भवतः उसका पार भी सहज ही पा लेंगे। सम्भवतः इसलिए कि इसमें उलझन भी कम नहीं है। मंत्री ने तो 'राम राम' कहकर साँस ली और अपनी व्याकुलता को इस प्रकार दूर करना चाहा, परन्तु इसका प्रभाव यह पड़ा कि राम के वाजियों ने समझ लिया कि राम आ गये। फिर क्या था? उनकी दृष्टि भी दक्षिण दिशा में दौड़ पड़ी, पर आशा से उन्हें भी धोखा हुआ। परिणाम यह

हुआ कि—

नहिं तृन चरहिं न पियहिं जलु, मोचहिं लोचन वारि

उनकी इस दशा का प्रभाव निपाद पर इतना गहरा पड़ा कि वह भी व्याकुल हो गया और किसी प्रकार धीरज धर कर सुमन्त्र को समझाने में लगा। उसने जैसे-तैसे उन्हें उठाकर रथ पर तो रख दिया, पर उनसे भला रथ चलाया कैसे जा सकता था? चलाना चाहते भी तो—

चरफराहिं मग चलहिं न घोरे, बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे।

और यदि जैसे-तैसे विवशता के कारण चलना भी चाहते थे तो—

अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे, राम बियोग बिकल दुख तीछे।

यदि बात यहीं तक रह जाती तो भी कोई बात न थी। उनकी दशा तो यह हो गई कि—

जो कहु राम लषन वैदेही, हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही।

बस, उनका हितू तो वही है जो राम, लखन और वैदेही का नाम लेता है। उससे उनका ऐसा नाता जुट जाता है कि उन्हें यह आशा हो जाती है कि इसके द्वारा फिर हमें राम का दर्शन होगा। सचिव और तुरंग की इस दशा को देख कर निपाद भी विपाद के वश में हो गया और उसने यह प्रत्यक्ष देख लिया कि सुमन्त्र का साथ देना उसके वश का काम नहीं। निदान—

बोलि सुसेवक चारि तब, दिये सारथी संग।

गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रसंग में अश्वों की वेदना का वर्णन कर यह दिखा दिया कि वही राम प्राणि-मात्र में किस प्रकार रमा है, और किस प्रकार विवश होने पर भी पशु-जीवन उससे दूर नहीं। अश्व की व्यथा को व्यक्त करने के लिये जो उपमान लाये गये हैं उन पर दृष्टि डालने के पहले उनके

अनुभावों पर ध्यान देना चाहिये और यह टाँक लेना चाहिये कि अश्व की वाणी में हिनहिनाने और हिंकरने में क्या अन्तर है? गोस्वामी तुलसीदास ने स्थिति को स्पष्ट करने के विचार से पहली दशा में 'जिमि बनु पंख बिहँग अकुलाहीं' का उल्लेख किया है और दूसरी दशा में 'बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती' का। एक में अशक्त दशा की व्यंजना है तो दूसरे में अलक्ष्य वस्तु की। हैं दोनों ही उपमा के रूप में, किन्तु दोनों की वेदना में बड़ा भेद है। पंख कहीं जाने का साधन भर है, किन्तु मणि में यह बात नहीं है। साँप का वही सर्वस्व है। बीच में एक 'बन-मृग मनहुँ आनि रथ जोरे' का उपमान भी है। यहाँ उपमा नहीं, उत्प्रेक्षा है। 'वन-मृग' रथ में तो चल नहीं सकता। उसका मन भी वन की ओर भागने को ही होगा। निषाद को विषाद में ही छोड़ दीजिये। उसका विषाद भी शोक-ग्रस्त सुमन्त्र के कारण ही विशेष है। अतः सुमन्त्र को ही परखिये। सुमन्त्र ने जो कुछ अपने आप सोचा उसे एक ओर रखिये और दूसरी ओर तुलसीदास ने जिस रूप में उसे बताया उसको रखिये और तीसरी ओर देखिये यह कि अप्रस्तुतों के द्वारा यहाँ कौन सा काम लिया गया है। सुमन्त्र के सोच का प्रारम्भ होता है 'धिग जीवन' से और उसका अन्त होता है 'यातना शरीर' में। उनको चिन्ता है कि वे ही ऐसे अभागी जीव हैं जिन्होंने रघुवीर के वियोग में कोई यश प्राप्त नहीं किया और वे ही ऐसे पतित प्राणी हैं कि राम के वियोग में उनका हृदय विदीर्ण नहीं हुआ। जब उनको अपने जीवन की सुधि आती है तब उनको चारों ओर से यही दिखाई देता है कि उनको अयश प्राप्त हुआ, अघ लगा, फिर भी उनका प्राण प्रस्थान नहीं करता। न जाने अभी और क्या उसे प्राप्त करना है? मन से भी उस समय तो कुछ भी न बन पड़ा जब वह कुछ कर सकता था, किन्तु अब नाना प्रकार

की चिन्ता उत्पन्न कर रहा है। और हृदय तो वज्र ही का निकला कि अब भी फट कर दो टूक नहीं हो जाता। अपनी स्थिति तो यह है और कार्य है अवध में पहुँच कर सब समाचार सुनाना। अवध में जो कोई राम से रहित रथ को देखेगा वह देखने में भी संकोच करेगा। किसी प्रकार मुँह छिपाकर यदि नगर में पहुँच भी गया तो लोग दौड़-दौड़ कर बड़ी व्याकुलता से न जाने क्या-क्या प्रश्न करेंगे। तब अपनी स्थिति यह होगी कि हृदय पर पत्थर रखकर सब का समाधान करना ही होगा। तो क्या इसी हेतु मैं जीवित हूँ ? अरे ! जैसे-तैसे यदि उनसे निकल भी गया तो जब दीन और दुखारी माताएँ आकर राम, लक्ष्मण और सीता आदि के विषय में कुछ मुझसे पूछेंगी तब मैं उनसे क्या कहूँगा ? हा विधाता ! इसका भी सामना करना ही होगा ! और जब लक्ष्मण की माता सुमित्रा मुझसे पूछेंगी तब कौन सा सुख-सन्देश उन्हें सुनाऊँगा ? माना कि उनको उतनी चिन्ता नहीं, किन्तु जब राम-माता का सामना होगा तब क्या करूँगा ? क्या उनसे यही कह दूँगा कि राम, लक्ष्मण और वैदेही वन में चले गये ? बस, अब तो इस जीवन का एक यही सुख भोगना शेष रह गया है कि अवध में जो कोई जो कुछ पूछे उसका वही उत्तर दिया जाय। यहाँ तक तो कोई बात नहीं। जैसे-तैसे इसे भी भोग लिया जायगा, किन्तु जब राजा दशरथ का प्रश्न होगा तब अपना सन्देश क्या होगा ? यही न कि कुशलपूर्वक मैंने राजकुमारों को वन में पहुँचा दिया। क्या इसी कुशल-समाचार के लिये मैं जी रहा हूँ ? किन्तु उसका परिणाम क्या होगा ? राजा दशरथ का प्राण-परित्याग ! प्रतीत होता है कि अब यह शरीर यातना-शरीर के रूप ही में रह सकेगा, अन्यथा कोई उपाय नहीं। यदि होनहार ऐसा न होता तो राम के वियोग में यह हृदय फट क्यों नहीं जाता और क्यों यह शरीर इस रूप में

बना रहता ? सुमन्त्र के जी में जो कुछ बीत रही है उसको व्यक्त करने के हेतु जो उपमान आये हैं, वे हैं कृपिण, सुभट, विप्र, कुलीन तिय, महतारी (पुत्र) और पापी। उधर हम देखते हैं कि उपमेय के रूप में भी जोई, नगर-नारि-नर, सब माता, लषन-महतारी, राम-जननि और राउ हैं। तो क्या इसका निष्कर्ष यह नहीं निकाला जा सकता कि तुलसीदास ने अप्रस्तुत के द्वारा सुमन्त्र की चिन्ता को ही रूप देने का यत्न किया है। टीकाकारों ने उपमानों की विशेषता पर बहुत कुछ विचार किया है और उन्हें सुमन्त्र के जीवन में घटाकर दिखा भी दिया है, किन्तु हमारी समझ में उन्होंने पति-देवता के दारुण दाह को समझने में कुछ भूल की है और 'मारेसि मनहुँ पिता महतारी' का तो कुछ अर्थ ही और लिया है। 'रहइ करम बस परिहरि नाहू' का अर्थ इससे आगे नहीं लगाया जा सकता कि वह अपने नाथ से अलग है और कर्म-वश जी रही है। चाहें तो यहाँ तक इसको ले सकते हैं कि नाह को उसने अपने आप छोड़ दिया है, पर इसके आगे यह कल्पना करना कि वह किसी की घर-बसी हो गई है सर्वथा अनिष्ट और अनर्गल है। बात भी यही है। सचिव ने राम को छोड़ दिया, और उनकी यह स्थिति तब होती है जब उनके सामने सुमित्रा का प्रश्न आता है। यहाँ तक तो कोई बड़ी बात न थी। यह दारुण वेदना भी सुमन्त्र सह सकते थे, किन्तु इसके आगे जो उनकी दशा हुई उसका वर्णन पहले कवि के मुँह से सुन लीजिये और फिर समझिये यह कि 'मीजि हाथ सिर धुनि पछिताई' में क्या परिवर्तन हो गया और हुआ क्यों ? तुलसी कहते हैं —

लोचन सजल दीठि भइ थोरी। सुनै न श्रवन बिकल मति भोरी॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिव न जाइ उर अवधि कपाटी॥
बिबरन भयउ न जाइ निहारी।..............

इन अनुभावों के द्वारा जिस भाव की व्यंजना होती है वह भाव है क्या ? तुलसीदास उसे दिखा नहीं सकते। हाँ, बता अवश्य सकते हैं और बताते भी हैं इस रूप में कि मान लो कि किसी की माता ने उसके पिता को मार डाला। फिर उसकी जो स्थिति होगी वही सुमन्त्र की स्थिति है। इसमें माता कैकेयी के द्वारा पिता दशरथ के मारे जाने का संकेत भी है। इस प्रकार के लेखा-जोखा से जो हानि और जो ग्लानि मन में व्याप्त हुई वह दशरथ के निधन से ऐसी चारों ओर फैलती हुई दिखाई दी कि उसकी उपमा पापी की यमपुर-यात्रा से दी गई। सुमन्त्र जिस 'जातना-सरीरु' का उल्लेख करते हैं वह जमपुर में ही तो अपना भोग भोगेगा। बस यही है इस अप्रस्तुत-विधान का रहस्य, जो सुमन्त्र के हृदय की वेदना को साकार बना देता है और उसकी पूर्ति को हमारी दृष्टि में ऐसा ला खड़ी करता है कि हम कभी उसे भूल नहीं सकते। अनुभाव भी ऐसे ही हैं कि जो कह तो बहुत कुछ देते हैं पर सच पूछिये तो खुलकर कुछ भी नहीं कह पाते। विवर्ण के बाद क्या होगा इसको कौन नहीं जानता ?

प्रस्तुत प्रसंग में खटकने की बात यह हो सकती है कि गोस्वामीजी ने सुमन्त्र के प्रसंग में 'कुलीन-तिय' और 'महतारी' के अप्रस्तुत क्यों ला दिये हैं ? क्या इनके स्थान पर पुरुष-वर्ग का उपमान लाना ठीक नहीं होता ? निवेदन है, इसका भी कुछ रहस्य है। जहाँ तक शोक और करुण का सम्बन्ध है यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि इनकी अनुभूति जितनी प्रखर, प्रशस्त, प्रगल्भ और गभीर स्त्री में होती है उतनी पुरुष में कदापि नहीं। इसी से तो कोप-भवन में कैकेयी ने दशरथ से फटकार कर कहा था —

जनि अबला जिमि करुना करहू।

—अयोध्या, ३५

अतएव यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि यदि शोक की पराकाष्ठा को व्यक्त करना है, तो स्त्री का उपमान लाना ही होगा। यही कारण है कि तुलसीदास ने इस शोक की पराकाष्ठा के लिये पत्नी और महतारी का उपमान लिया है। पत्नी की वेदना की अभिव्यक्ति तो सीधे से हो गई है, किन्तु महतारी का उपमान महतारी की वेदना को व्यक्त करने के हेतु ही नहीं, पुत्र की वेदना को सतर्क करने के विचार से भी लिया गया है। माता के अपराध का प्रभाव पुत्र पर क्या पड़ेगा, और स्वयं माता की ऐसी दशा में अवस्था क्या होगी, यह भी विचारणीय है। इसी से तुलसीदास ने यहाँ उस पुत्र की मर्म-वेदना को खड़ा किया है, जिसकी माता ने अपने पति का वध किया हो और फिर भी उसके सामने ही खड़ी हो। इसमें कोरी वेदना ही नहीं, किंकर्तव्यविमूढ़ता भी है।

गोस्वामीजी ने उपमा और उत्प्रेक्षा की स्थिति को भली भाँति परखा है और तौलकर ही जहाँ-तहाँ जब कभी उनका प्रयोग किया है। दोनों की स्थिति में क्या भेद है इसे तुलसी से सीखिये। तुलसी ने उपमा को उतना महत्व नहीं दिया है जितना उत्प्रेक्षा को। मानस-रूपक में जो 'उपमा बीचि बिलास मनोरम' का उद्घोष किया गया है, वह निरी उपमा के लिये नहीं। नहीं, वह तो उपमा-मूलक अलंकार मात्र के लिये है। उपमा से उत्प्रेक्षा को तुलसीदास क्यों अधिक काव्य-प्रद समझते हैं इसकी ऊहापोह में पड़ने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने स्वयं दो प्रसंगों में इसका निर्देश भी कर दिया है। अच्छा होगा, पहले राम के प्रसंग को लीजिये। तुलसीदास का एक गीत है—

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाये।
नील-जलद-तनु-स्याम राम-सिसु जननि निरखि मुख निकट बोलाए ॥ १ ॥

बंधुक-सुमन अरुन पद पंकज अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए।
नूपुर जनु मुनिवर-कलहंसनि रचे नीड, दै बाँह बसाए॥ २॥
कटि मेखल, बर हार, ग्रीव दर, रुचिर बाँह भूषन पहिराए।
उर श्रीवत्स मनोहर हरि नख हेम मध्य मनि गन बहु लाए॥ ३॥
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका स्रवन कपोल मोहिं अति भाए।
भ्रू सुन्दर करुनारस-पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जलजाए॥ ४॥
भाल बिसाल ललित लटकन बर, बाल दसा के चिकुर सोहाए।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए॥ ५॥
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनो तडित छपाए॥ ६॥
अंग अंग पर मार-निकर मिलि छबि समूह लै लै जनु छाए।
तुलसिदास रघुनाथ-रूप-गुन तौ कहौं जो बिधि होंहि बनाए॥ ७॥

—गीतावली, बाल॰ २३

इसमें हम जिस बात पर विशेष ध्यान देना चाहते हैं वह है 'उपमा एक अभूत भई।' इस 'अभूत उपमा' को लेकर एक प्रसिद्ध अलंकार-शास्त्री ने 'अभूत उपमा' का इसी को उदाहरण बना दिया है और किया यह है कि 'मनो तडित छपाये' को 'जिमि तडित छपाये' में परिणत कर दिया है। हमारी दृष्टि में यह ठीक नहीं। वास्तव में तुलसीदास ने भूत और अभूत उपमा का भेद खोलने की दृष्टि से ही यहाँ 'मनो' का प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षा और कुछ नहीं, 'अभूत उपमा' ही है। उपमा और उत्प्रेक्षा में भूत और अभूत का भेद तो है ही। इसी को सरल ढंग से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उपमा-अलंकार में जो दृश्य उपस्थित किया जाता है वह सृष्टि का अंश होता है; प्रकृति में पहले से ही बना होता है, किन्तु उत्प्रेक्षा में यह बात नहीं होती। उत्प्रेक्षा अपने खरे रूप में वहीं खड़ी होती है जहाँ कवि प्रकृतिमात्र

से तृप्त न हो कई प्रकृति-खंडों को एकत्र देखना चाहता है और उसके निमित्त प्रकृति के नाना रम्य रूपों को एकत्र करता है। उत्प्रेक्षा में जो 'उत्' लगा हुआ है उसका यही संकेत है। और यही है कल्पना का वह उत्कर्ष जो उत्प्रेक्षा को उपमा से ऊपर उठा सौन्दर्य की वेदना को और भी गहरी, रमणीय तथा तीव्र बना देता है। कदाचित यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास ने ने एक दूसरे अवसर पर कुछ उपमा की त्रुटि की ओर भी संकेत किया है। किन्तु उस पर दृष्टि डालने से पहले यह देख लेना चाहिये कि प्रस्तुत प्रसंग में 'मनो' को 'जिमि' कर देने से दोष क्या आ जाता है ? अच्छा, तो 'जिमि और 'मनो' का सामान्य भेद है क्या ? यही न कि 'जिमि' में जैसा है वैसा ही देख लेने की आकांक्षा है और 'मनो' में जैसा है नहीं वैसा मान लेने की प्रेरणा। अस्तु, कहा जा सकता है कि उपमा मानी हुई बात में होती है और उत्प्रेक्षा बात को मनाने के हेतु होती है। जो है नहीं किन्तु जो हो जाय तो कितना बढ़िया और हृदयग्राही हो यही उत्प्रेक्षा का मूल विषय है —

"नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनो तडित छपाये।"

'तडित' का स्वभाव क्या है ? चंचलता ही न ? कहा जा सकता है कि 'स्वभाव को छोड़कर जैसे तड़ित ने छपा लिया' में क्या आपत्ति है ? निवेदन है 'जैसे' क्रियाविशेषण के रूप में आ जायेगा और सौन्दर्य की वह अनुभूति भी न हो सकेगी। कवियों की यह परिपाटी सी रही है कि वे उत्प्रेक्षा के साथ साथ कहीं उपमा का प्रयोग भी कर जाते हैं और उपमा के साथ साथ कहीं उत्प्रेक्षा का भी। अलंकार-शास्त्री उनकी वेदना के उतार-चढ़ाव को न परखकर उनकी रचना में दोष निकालने लगते हैं, परन्तु ऐसा करना साधु नहीं, वितंडा है।

उपमा की स्थिति को स्पष्ट करने का दूसरा अवसर हाथ लगा है 'सिय-सोभा' के बखान में वे कहते हैं—

सिय सोभा नहिं जाय बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
सीय बरनि तेहि उपमा देई। कुकवि कहाइ अजस को लेई॥
जौं पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
जौं छबि-सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥

एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिं सीय सम तूल॥

—बाल, २५२

तुलसीदास यहाँ भी उपमा की उपेक्षा 'प्राकृत नारि अंग अनुरागी' के कारण करते हैं और उसके द्वारा सीता की शोभा को व्यक्त करना कुकवि कहाना और अयश मोल लेना बताते हैं। जब उनकी दृष्टि स्त्री-मात्र पर पड़ती है तब नारी की कौन कहे, कोई देवी भी उनकी दृष्टि में नहीं टिकती। सभी में कुछ न कुछ त्रुटि दिखाई देती है। निदान सोचते हैं कि यदि कहीं इस प्रकार की विधि बैठ जाय तो कुछ काम निकल आये। यहाँ तुलसीदास करते तो हैं संभावना, किन्तु उतर आते हैं उत्प्रेक्षा की भूमि में ही। यही कारण है कि आगे चलकर तुलसीदास उत्प्रेक्षा के द्वारा ही सीता के सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं और उसकी अभिव्यक्ति में अपनी कल्पना का कौशल दिखाते हैं।

तुलसीदास ने राम के रूप का जो वर्णन किया है उसको लेकर हम नहीं चलना चाहते। हमको दिखाना तो यह है कि

तुलसीदास ने रण-भूमि में विजयी राम की छटा को किस रूप में देखा है और उनके शरीर पर पड़ी हुई शोणित की छींटों को किस रूप में लिया है। उपमा तो यहाँ आ नहीं सकती थी। फलतः उत्प्रेक्षा ही हुई है और ऐसी हुई है कि इसमें तुलसी का हृदय खिल उठा है। कहते हैं —

राम सरासन ते चले तीर रहे न सरीर हड़ावरि फूटी।
रावन धीर न पीर गनी, लखि लै कर खप्पर जोगिनि जूटी॥
सोनित छींटि-छटानि-जटे तुलसी प्रभु सोहैं, महाछवि छूटी।
मानो मरक्कत-सैल बिसाल में फैलि चली बर बीर बहूटी॥

—कवितावली, लंका, ५१

रावण का रक्त राम के शरीर पर पड़ा नहीं कि उससे महाछवि छूट पड़ी और तुलसीदास को विशाल मरकत-शैल पर वीर-बहूटियों का फैल चलना सूझ गया। फिर तो राम की ऐसी शोभा बढ़ी कि कामदेव उसके सामने क्या ठहरेगा? तुलसीदास लिखते हैं —

राजत राम काम सत सुन्दर।
रिपु रन जीति अनुज सँग सोभित, फेरत चाप बिसिष बनरुह-कर॥
स्याम सरीर रुचिर स्रम-सीकर, सोनित-कन बिच बीच मनोहर।
जनु खद्योत-निकर हरिहित-गन भ्राजत मरकत-सैल-सिखर पर॥
घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि, हरखित सकल रिच्छ अरु बनचर।
कुसुमित किंसुक-तरु-समूह महँ तरुन तमाल बिसाल बिटपवर॥
राजिव नयन बिलोकि कृपा करि किए अभय मुनि नाग बिबुध नर।
तुलसिदास यह रूप अनूपम हिय सरोज बसि दुसह बिपति हर॥

—गीतावली, लंका, १६

ध्यान देने की बात है कि यहाँ शोणित-कण अपने स्थान पर जम गये हैं। उनमें गति नहीं रह गई है। साथ ही पसीने की

बूँदें भी बनी हुई हैं। तुलसीदास इस रूप को इस ढंग से बताना चाहते हैं कि दोनों का मिला-जुला दृश्य हमारे सामने आ जाय। यहाँ भी वही मरकत-शैल और वही बीर-बहूटियाँ हैं, परन्तु साथ ही हैं यहाँ खद्योत भी। खद्योत के द्वारा जो श्रम-सीकर की अभिव्यक्ति हुई है वह देखने के योग्य है, और देखने के योग्य है वह श्रेष्ठ विशाल तरुण तमाल भी, जो फूले हुए पलाश वृक्षों के समूह में खड़ा है। उक्त सवैया में जहाँ शत्रु का रक्त दिखाई देता है प्रकृत गीत में वहीं स्वपक्षियों का घाव भी। तुलसीदास को राम का रूप इतना भाता है कि अन्त में उनका कहना ही यही होता है कि—

तुलसिदास यह रूप अनूपम हिय-सरोज बस दुसह बिपति-हर॥

अवश्य ही जो विपत्ति में पड़ा हुआ है वह इसी अनुपम रूप को अपने हृदय-कमल में धारण करेगा और इस असुर-संहारी रूप को कभी भूल न सकेगा। तुलसीदास इस अनुपम रूप पर सुख से रायमुनी को कैसे बिठा देते हैं, इसे भी देखिये—

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं॥
जनु नील गिरि पर तडित पटल समेत उडगन भ्राजहीं॥
भुज-दण्ड सर कोदण्ड फेरत रुधिर कन तन अति बने॥
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥

—लंका, १०२

रायमुनी और बीरबहूटी पर तुलसीदास की जैसी दृष्टि पड़ी है वैसी क्या किसी की होगी? यहाँ 'तडितपटल' और 'उडगन' का अप्रस्तुत भी कितने ठिकाने से ला दिया गया है।

राम के संग्राम के लाघव को देखना हो तो तुलसी के इस

छन्द को पढ़ें और देखें कि राहु से दिनकर का कैसा बदला लिया गया है—

जनु राहु केतु अनेक नभ पथ स्रवत सोनित धावहीं।
रघुबीर तीर प्रचंड लागहिं भूमि गिरन न पावहीं॥
एक-एक सर सिर निकर छेदे नभ उड़त इमि सोहहीं।
जनु कोपि दिनकर कर निकर जहँ तहँ बिधुतुद पोहहीं॥
—लंका, ६२

'इमि' की तोड़ में 'जिमि' को देखने वाले इस 'जनु' में क्या देखेंगे, यह हम नहीं कह सकते, परन्तु इतना अवश्य जानते हैं कि इस 'जनु' के द्वारा जो बात व्यक्त की गई है वह अनुपम ही नहीं, अद्भुत भी है। उर्दू के लोग 'अनीस' की बड़ी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि अब्बास के मुख-मंडल में जो शत्रु के भाले चुभे हुए थे उनकी सूर्य-किरणों से उपमा देकर अनीस ने कमाल कर दिया है। किन्तु सच तो यह है कि उस कमाल में भी बहुत कुछ इस लाघव का हाथ है। अनीस अथवा लखनऊ के मरसिया-लेखक तुलसी से कितना प्रभावित हैं, यह भी विचारने की बात है। यहाँ हम इतना ही कह कर सन्तोष करते हैं कि अनीस की उपमा प्रकरण के अनुकूल नहीं ठहरती। कारण कि भाले चुभे तो हैं अपने इष्ट के मुख में ही। फिर उससे जो वेदना उत्पन्न होगी वह ऐसी न होगी कि हम उसी में अपने प्रिय की शोभा का साक्षात्कार करें और उसके प्रति हमारा जी कलप न उठे।

राम की रक्त-चर्चित अनुपम छवि के पान तथा उनके हस्त-लाघव के दर्शन के उपरान्त देखना यह चाहिये कि इसका परिणाम हुआ क्या और आसुरी लोगों की गति बनी क्या? सो, रण-भूमि में जो रुधिर-सरिता बही तो विपक्षियों की दशा कुछ और ही हो गई। रावणी भटों की जो गति बनी उसको

तुलसीदास ने उत्प्रेक्षा के रूप में व्यक्त किया और प्रकारान्तर से प्रकट भी कर दिया कि इस उत्प्रेक्षण में उस उत्प्रेक्षण से कितना विभेद है। यहाँ भी है तो उत्प्रेक्षा ही, किन्तु इस उत्प्रेक्षा में कल्पना की वह उड़ान और प्रतिभा का वह उल्लास नहीं है। यहाँ तो जो उपमान लाये गये हैं वे प्रति दिन के देखे-सुने हैं। देखिये—

कहरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहु अर्धजल परे॥
खैंचहिं गीध आँत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए॥
बहु भट वहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं॥
जोगिनि भरि-भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच वधू नभ नंचहिं॥
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना विधि गावहिं॥

—लंका, ८८

दिखाने को तो तुलसीदास ने यहाँ भी उछाह ही को दिखाया है, किन्तु विशेषता यह है कि यह उछाह विपक्ष के नाश पर होता है। इसमें स्वपक्ष की क्षति की आशंका भी नहीं है। तुलसीदास ने पहले उपमान में जो 'जहँ तहँ मनहुँ अर्ध जल परे' को ला दिया है वह विशेष महत्व का है। जो भट घायल होकर गिर पड़े हैं और व्यथा के मारे कराह रहे हैं, उनमें इतनी शक्ति नहीं कि वे टस से मस हो सकें। उधर रुधिर की धारा भी उमड़ती हुई वहती चली जाती है, जिससे स्थिति यह हो गई है कि इनका धड़ कुछ रुधिर में डूब गया है और कुछ अभी वाहर दिखाई दे रहा है। तुलसीदास इसी को प्रत्यक्ष दिखाना चाहते हैं और इसी से कह भी देते हैं कि मानों वे अर्धजल में पड़े हुए हैं। किन्तु अर्धजल की व्याप्ति यहीं समाप्त नहीं हो जाती। इस अर्धजल में जो भाव भरा है, वह आप ही स्फुट हो जायगा यदि आप इसके साथ

सूरदास के अर्धजल को भी जान लें और उसकी व्यंजना को भी भली भाँति समझ भी लें। सूर की गोपियाँ किस भंगिमा में किससे क्या कहती हैं और उसके द्वारा सिद्ध क्या करना चाहती हैं, इसको लक्ष्य में रख कर प्रकृत-पद पर विचार करें। सूर कहते हैं—

ऊधौ, तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै किन बेकाज ररौ।
जाय करौ उपचार आपनौ हम जो कहत हैं जी की॥
कछू कहत कछुवै कहि डारत धुनि देखियत नहिं नीकी।
साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुमसों मानी हारि॥
याही तें तुम्हें नंदनँदन जू यहाँ पठाये टारि।
मथुरा वेगि गहौ इन पाँयन उपज्यो है तन रोग॥
सूर सुवैद वेगि किन ढूँढ़ौ भए अर्धजल जोग॥

प्रस्तुत पद में 'भए अर्धजल जोग' में अर्धजल का जो संकेत है, वही 'मनो अर्धजल परे' के अर्धजल में भी है। उद्धव अर्धजल के योग्य हो गये हैं तो भी उनकी ममता अभी उनसे दूर नहीं हुई। उन्हें अभी 'योग' का उपदेश जो देना है। किन्तु गोपियाँ कहना चाहती हैं यह कि यदि आपको शिष्य बनाने की धुन है तो पहले किसी अच्छे वैद्य से अपनी दवा करा लीजिये और ऐसा अच्छा वैद्य आपको वहीं मथुरा में ही मिलेगा। यहाँ तो आपका कोई उपचार हो नहीं सकता। और यदि आपका कोई उपचार नहीं हो पाता तो अब दशा यह है कि 'हरि बोल, हरि बोल' के अतिरिक्त आपका कोई उपाय नहीं। बस, अब आप चला ही चाहते हैं। जीवन-लीला समाप्त होने ही को है। हाँ, तो तुलसीदास ने इसी से पहले ही कह दिया था कि—

करि जतन भट कोटिन्ह विकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं॥
एहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही।
रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहिं सही॥

—सुन्दर, ३

अस्तु, इनमें जो 'सर' के लगते ही चल बसे थे, उनकी गति तो पहले ही हो चुकी थी। अब जो कायर रह गए थे उनकी यह कदर्थना हुई। अतः तुलसीदास इस उपमान के द्वारा बताना चाहते हैं कि निदान उनकी भी मुक्ति होने ही वाली है। इसी से तो मानों वह अर्धजल की स्थिति में आ गये हैं और उनसे जैसे यह कहा जा रहा है कि अब कहरना छोड़ कर राम-राम कहो और अपने जीवन को राम-मय बना कर राम-धाम के वासी बनो और छोड़ो इस धरा-धाम को। इसमें अब तुम्हारे लिये रहा क्या? अरे! इन भटों ने बहुतों का मांस खाया था और इसी से अब इनका मांस भी बहुतों के उछाह का कारण बना। उधर मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इसी को ठीक अवसर पर और ठौर ठिकाने से बताया था कि जो जिसका मांस खाता है उसी का मांस अगले जन्म में वह भी खाता है। तुलसीदास बताते तो नहीं, पर इसी को चित्त में उतार देते हैं। गीध तट से होकर आँत को खींच रहे हैं तो इधर पक्षी बहते हुए भटों पर बैठे हुए विहार कर रहे हैं। तुलसीदास इसी से कहते हैं कि यदि उनकी अवस्था को यथा-तथ्य अंकित करना है तो किसी मछली के शिकारी और नाव पर आमोद-प्रमोद करने वाले प्राणी को क्यों नहीं देख लेते। ठीक ऐसा ह। तो उस रुधिर-सरिता में भी हो रहा है। यहाँ तक तो उत्प्रेक्षा का कार्य रहा। इसके आगे और इसके

पहले उन जीवों का उल्लेख हुआ है जो ऐसे अवसरों की बाट जोहते रहते हैं और हाथ लगते ही परम उछाह का परिचय देते हैं। उनका वर्णन जितना स्वाभाविक है उतना ही सजीव भी और उसी सजीवता के बीच तुलसी का यह उत्प्रेक्षण भी विशाल है।

हाँ, तो तुलसी के रक्त-रंजित उत्प्रेक्षण से जी भर गया हो तो उनके अनुरक्त उपमानों को लीजिये और स्मरण रखिये कि —

दूलह राम सीय दुलही री।
घन-दामिनि-वर बरन, हरन-मन सुन्दरता नखसिख निबही, री ॥ १ ॥
ब्याह विभूषन-बसन- विभूषित, सखि-अवली लखि ठगि सी रही, री।
जीवन-जनम-लाहु लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री ॥ २ ॥
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमिय-मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल भुवन-छबि मनहुँ मही, री ॥ ३ ॥
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि विरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही, री ॥ ४ ॥

—गीतावली, बाल, १०४

इसमें जो 'अभूत उपमा' निखर उठी है उसकी चर्चा और नहीं होगी। यह तो तुलसी की वह कला है जिसकी जोड़ नहीं और यह उसी जोड़ी के लिये सुरक्षित भी है जिसकी कोई उपमा नहीं। अतएव इसको यहीं छोड़ इस जोड़ी के उस रूप को लीजिये जो सर्वथा प्राकृत है और प्राकृत रूप में ही अपना कुछ कौतुक दिखा रहा है। गोस्वामी तुलसीदास कब किस आँख से क्या देखते हैं और किस ढब से किस अवसर पर क्या दिखाते हैं, इसे जानना ही हो तो उनकी इस चौपाई को कंठ कर लीजिये —

राम सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जात बिधि केहीं॥
अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥
—बाल, ३३०

पराग, जलज, ससि और अहि किसके उपमान हैं, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। तुलसीदास इस दृश्य में इतने मग्न हैं कि इसे छोड़ कर कहीं जाना नहीं चाहते और न यही चाहते हैं कि कोई सहृदय भी कहीं अन्यत्र जाय। फलतः उपमान और उपमेय को इस रूप में रख देते हैं कि उन्हें आप रूपकातिशयोक्ति के रूप में चट ग्रहण कर लेते हैं। इतना ही नहीं। यह तो तुलसी की प्रतिभा के लिये बहुत ही तुच्छ बात है। इसमें जो 'लोभ अमी के' का विधान किया गया है वह फल ही इस उत्प्रेक्षण को सफल बना रहा है और यह पुकार कर कह रहा है कि तुलसी की वाणी कवि की वाणी नहीं, सरस्वती की देन है। सो, यहाँ जिस अमृत का लोभ दिखाया गया है वह राम-जीवन से कभी अलग नहीं हुआ है और हुआ भी है तो वह लोभ और भी बढ़ गया है। कहाँ तो यह दशा थी कि सीता को आशंका हुई तो उनके नूपुरों ने भी मुखर होकर कवि-हृदय में कुछ कह दिया—'हमहिं सखि पद जनि परिहरहीं' और कहाँ यह परिस्थिति आ गई कि 'हम कहीं और तुम कहीं।' परिणामतः वियोग में राम की जो वेदना जगी उसका वर्णन पहले भी आ चुका है और तुलसी ने वहाँ भी रूपकातिशयोक्ति से ही विशेष काम लिया है। यहाँ दिखाना यह है कि कभी सीता की सुषमा के सामने जो चन्द्रमा 'बापुरो' और 'रंक' दिखाई देता था वही आज परिस्थिति के प्रताप से राम को केसरी के रूप में गोचर हुआ और राम ने भी उससे वह पाठ पढ़ा कि मत्त नागों का विध्वंस हो गया और उससे वह 'मुकुताहल' हाथ लगा जो सीता का

शृंगार बना। परन्तु है वह रूपक का प्रसंग ही। अतः यहाँ उसका उल्लेख न कर बताया यह जाता है कि कुछ उस देश को भी देख लीजिये जहाँ—

निज कर राजीव नयन पल्लव-दल-
रचित सयन प्यास परस्पर पीयूष प्रेम पान की

की लीला चल रही थी। तभी तो तुलसीदास भी हुलस कर कहते हैं—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु प्रवेस बिसेष गिरि देखन मन अनुरागत॥ १॥
चहुँ दिसि बन संपन्न, बिहँग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत॥ २॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि॥ ३॥
सिखर परस घन घटहिं, मिलति बग पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥ ४॥
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ, बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग॥ ५॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि भरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम भगति के पाछे॥ ६॥
—गीतावली, अयोध्या, ५०

तुलसीदास ने वर्षा-ऋतु में चित्रकूट को जिस रम्य रूप में देखा है वह तो यथार्थ है ही, उसमें उत्प्रेक्षण कर जिस राम को रमाया है वह भी अलभ्य है। तुलसीदास के हृदय में पहले तो प्रफुल्ल भ्रमर से गुंजायमान ब्रह्मा का पिता अम्भोज प्रकट होता है और फिर वह आदि वाराह, जिसने पृथ्वी फोड़ कर हिरण्याक्ष का संहार किया और किया पृथ्वी का उद्धार। तुलसी

की दृष्टि यहीं नहीं रुकती। चित्रकूट की विचित्रता इतनी ही नहीं है। वहाँ की शिलाओं में यत्र-तत्र जो जल रह गया है उसमें तुलसीदास को विश्व की झाँकी मिल रही है और उसी में सृष्टि का रहस्य खुल रहा है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रतिबिम्बवाद की अनुभूति भी यहीं हो जाती है, किन्तु सुख-सन्तोष और सुकृत की प्राप्ति होती है राम-भक्ति ही में। यही तो चित्रकूट की मन्दाकिनी है, जिसमें सभी झरनों का जल मिलता और एकरस हो जाता है।

अस्तु, गोस्वामी तुलसीदास ने प्रकृति के वर्णन में उत्प्रेक्षा का जो प्रयोग किया है वह कहीं भी देखा जा सकता है। हिन्दी कवियों की यह परिपाटी सी रही है कि वे प्रकृति के वर्णन में प्रायः उत्प्रेक्षा से काम लेते रहे हैं। तुलसीदास ने भी प्रायः ऐसा किया है। उत्प्रेक्षा के विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और न यही दिखाने में कोई लाभ दिखाई देता है कि किस प्रकार उन्होंने ग्रहों को भी उत्प्रेक्षा का विषय बनाया है। तुलसीदास की रचनाओं में जैसी उत्प्रेक्षा चाहें, मिल जायगी। अतएव इसके सम्बन्ध में अधिक न कह कुछ तुलसी के रूपकों पर विचार होना चाहिये। कारण कि उत्प्रेक्षा में कल्पना का जितना ही उत्कर्ष होता है उतना ही रूपक में उसे रूप देने का श्रम। समर्थ और कुशल कवि रूपक के द्वारा ही दृश्य को खड़ा करते हैं और उसको भली भाँति जी में जमा भी देते हैं। उत्प्रेक्षा के प्रकरण में तुलसीदास की शोणित-सरिता और उनकी भक्ति-मन्दाकिनी को देख लिया। अस्तु, यहाँ अब उनकी करुणा और स्नेह की सरिता को भी देख लीजिये। प्रसंग चित्रकूट ही का है। जो कठोर चित्रकूट पहले कोमल कमल बना था वही अब आकुल अम्बुधि बन गया है। कहते हैं—

तुलसीदास ने सरिता का रूपक बहुत बाँधा है और उसको भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाया भी खूब है। उन सभी रूपकों पर विचार करना व्यर्थ है। यहाँ अभीष्ट तो यह है कि हम तुलसी के रूपकों के महत्त्व को समझ लें और उनकी काव्य-कुशलता को ठीक-ठीक आँक भी लें। तो, राम अवध को छोड़कर वन को चल पड़े। हैं तो यहाँ तापस-वेष में, परन्तु भावना राजा की ही है। इसी से तीर्थराज प्रयाग में पहुँचते हैं तो उनको तीर्थराज का ऐसा साक्षात्कार होता है—

सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीत हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्रु अगमु गढ़ गाढ़ सुहावा। सपनेहु नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रन धीरा॥
संगमु सिंघासन सुठि सोहा। छत्रु अखय बटु मुनि मन मोहा॥
चँवर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होंहि दुख दारिद भंगा॥

सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम।
बंदी बेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुन-ग्राम॥

—अयोध्या, १०५

इसमें सिंहासन, छत्र और चँवर का जो रूप लिया गया है वह तो देखते ही बनता है। भला जहाँ ऐसा राजा होगा वहाँ दुःख-दारिद्र्य रह कैसे सकता है। राजा जिस सुहावने, गाढ़े-अगम गढ़ में बैठा है उस पर तो किसी अन्य का अनुशासन होने से रहा, किन्तु एक दूसरा भी राजा है जो मन्दिर में कौन कहे अरण्य में भी किसी को कुशल से नहीं रहने देता और वहाँ भी अपनी सेना खड़ी कर आक्रमण कर ही देता है। यह और कोई नहीं मदन-महीप जू हैं जो मनोभव के रूप में बहुत ही विख्यात और घट-घट व्यापी भी हैं। तुलसी की इस कला को

भी मन मार कर परखिये। कारण कि —

बिरह बिकल बलहीन मोहिं, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल॥
देखि गयउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब, कटकु हटकि मनजात॥

बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिए जनु तानी।
कदलि ताल बर धवजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका।
बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना।
कहुँ कहुँ सुन्दर बिटप सुहाए। जनु भट बिलग-बिलग होइ छाए।
कूजत पिक मानहुँ गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते।
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी।
तीतर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा।
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुन गन बरना।
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिबिध बयार बसीठी आई।
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हे।
लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।
एहि के एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी।

—अरण्य, ३

मदन महीप के इस डेरे पर यदि दृष्टि डालेंगे तो त्र
कुछ उस काल के पड़ाव का भी बोध हो जायगा और यदि
की दृष्टि से मुक्त रहना चाहें तो कोई क्षति नहीं। तुलसीद
आगे चलकर जो चिन्तामणि का रूपक लिया है वही इनके
छूमन्तर है; अन्यथा तुलसी की दृष्टि में कोई दृढ उपाय
तो भी यदि किसी कर्म-भूमि में जीवन-संग्राम में उतर
विजयी होकर रहना है तो हमें भूलना न होगा कि हमें जिर

पर चढ़कर विकट भट को रणभूमि में जीतना है वह है —

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्यसील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु, जीति सकै सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर॥

—लंका, ८०

सम्भव है इस प्रगति के युग में राजा के रूप से कुछ विरक्ति हो गई हो। अतएव एक ऐसे प्रसंग को लीजिये जिसमें राज्य ही अभिशाप हो रहा है और कोई राज्य भोगना चाहता ही नहीं। फावड़ा न सही, बसूला सही, काम तो वही हथ-धन्धा का है। लीजिये, भरत जैसा 'भायप' का प्रतीक कुछ अपने जी की सुना रहा है —

मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहिं हमार हित कीन्ह बसूला॥
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवध पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥
मोहि लगि यहु कुठाटु तेहिं ठाटा। घालेसि सब जगु बारहबाटा॥

—अयोध्या, २१२

कैकेयी के ठाट-बाट और भरत-हित के बसूले से व्यथित होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि आगे चलकर हम देखते हैं कि इसी बसूले की कृपा अथवा राम की चरण-पादुका के प्रताप से सबके कल्याण का विधान होता है। तुलसीदास ने इस चरण-पीठ का प्रदर्शन जिस रूप में किया है वह भी

अपने ढंग का अनूठा ही है। अब तक रूपक के जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें बुद्धि और भाव दोनों का भेद आप ही दृष्टि-पथ में आता रहा है, किन्तु यहाँ कुछ जटिलता आ गई है। हैं भी यहाँ दो पक्ष। भरत अथवा राज-लोक का पक्ष और प्रजा अथवा लोक-रक्षा का पक्ष। तुलसीदास ने प्रजा-पक्ष में उत्प्रेक्षा का विधान जान-बूझकर ही किया है, जिससे दोनों की वृत्तियों का विभेद भी खुल जाय। सच पूछिये तो चरण-पीठ की आवश्यकता थी प्रजा को ही। यदि प्रजा का प्रश्न न होता तो यह बखेड़ा ही क्यों खड़ा होता और यदि खड़ा भी होता तो यह परिवार ही उसके चक्कर मे क्यों पड़ता ? किन्तु प्रजा अपना रक्षक चाहती है और चाहती है इसी कुल का। राम नहीं रहते तो कोई बात नहीं। भरत क ही राजा के रूप में ग्रहण कर लिया जाय। परन्तु भरत ठह दशरथ के पुत्र और राम के भ्राता भी। स्नेह और मर्म क कोई कोना उनसे अपरिचित नहीं। निदान सारी प्रतिभा निचोड़ के रूप में ही चरण-पादुका का अवतार हुआ औ उसी ने करुणा का कार्य किया। प्रजा का प्राण जो संकट पड़ गया था और नाना प्रकार के तर्क-वितर्कों से आहत हो र था वह अकंटक हो गया और मानों उसकी रक्षा के हेतु ये दो यामिक उसको प्राप्त हो गये। किन्तु क्या इतने ही पूरा पड़ गया ? संसार के सभी जीव तो प्रजा के रूप में नहीं। इस व्यवस्था से उनका क्या कल्याण हुआ ? तुल जताना चाहते हैं कि जो राम से राम के नाम को बड़ा ठहर गया है वह अक्षरशः सत्य है। अवध की स्थिति राम के र हुए बिगड़ गई, किन्तु उनके अभाव में उनके नाम ने ही काम किया वह किसे नहीं भाया ? इस पाँवरी का प्रभाव पा कैकेयी पर क्या पड़ा, इसका पता नहीं। नहीं, पता है और

कि ग्लानि के मारे वह गल गई। अरे, इन्हें पादुका कौन कहता है? यह तो मानों राम नाम के रकार और मकार हैं, जिनके अनुष्ठान से जीव का कल्याण होता है। उसका सारा यत्न सफल होता है। प्रजा-वर्ग का कल्याण हो गया। अब राज-वर्ग को लीजिये। भरत का जो स्नेह है उसकी रक्षा कहाँ हो सकती है? यदि भरत को इनका आधार नहीं मिलता तो उन पर कितनी और कैसी कुदृष्टि पड़ती, इसको कोई भी समझ सकता है। उनके स्नेह का अनुपम जो रत्न है वह इसी पादुका के दृढ़दुर्ग में सुरक्षित हुआ और इसी में पक कर वह पारद बना जिसकी तुलना आज तक न हो सकी। तुलना क्या, वर्णन भी न हो सका। रही कुल की बात। सो तो प्रत्यक्ष ही है। इस कुल के लिये तो इनने किवाड़ का काम किया और कर्म-हीन इस कुल को दो हाथ मिल गये, जिससे सभी के काम सध गये। तो क्या यहीं इसकी इति हो गई? तुलसीदास कहते हैं, जी नहीं। सेवा जैसा जो उत्तम धर्म है उसकी तो ये निर्मल आँख ही हैं। जिसने इनको देख लिया उसने सेवा के मर्म को समझ लिया और यदि विश्व में सेवा जैसे धर्म की स्थापना हो गई, तो फिर कहना ही क्या, और क्या पाना शेष रह गया। सभी कुछ तो सहज ही सध गया। लोक-परलोक, राजा-प्रजा सब बन गये।

अवध में पादुका ने जो सद्भाव भरा वह तो मन की आँखों में फिर गया, पर राम ने जो कुछ वन में किया वह अभी चित्त में नहीं उतरा। लोक-कल्याण के लिये असुर-संहार तो दूर रहा, उनकी घरनी भी घर में नहीं रही। पता चला तो चढ़ दौड़े। क्षितिज पर दृष्टि पड़ी तो मयंक दिखाई दिया और उसने कुछ ऐसा उद्दीप्त किया कि राम अपने सहायकों की मंडली में बोल उठे और तुलसी ने चट उसे लिपिबद्ध कर दिया। लिखते हैं—

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि, मृगपति सरिस असंक॥

भला राम जैसे वीर को इस 'सरिस' से सन्तोष हो सकता था? उपमा दूर से दिखाकर रह जाती है। अपने आप रूप धारण नहीं कर पाती। किन्तु भाव की मूर्ति तो रूपक में ही खरी उतरती है। निदान राम ने फिर सतर्क होकर कहा—

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥
मत्त नाग तम कुम्भ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥

यहाँ तक तो पुरुषसिंह ने सिंह को देखा और देखा वनचारी शशि-केसरी को। किन्तु सरस देखना तो इसके आगे हुआ। जब उसने यह देखा कि यह केसरी मत्त नागों के तम-कुम्भ को यों ही नहीं फाड़ता, उसे तो अपनी सुन्दरी रात्रि का शृंगार भी करना होता है और ऐसा शृंगार करना रहता है कि गज-मुक्ताओं के बिना उसका काम ही नहीं सधता। निदान आकाश में तारे क्या हैं ? उसी तम-कुम्भ के मुक्ताफल तो। जब चन्द्र अन्धकार को फोड़ कर उसमें से अपनी प्रिया के लिये गज-मुक्ता निकालता है तब क्या रामचन्द्र भी अपनी प्रिया के लिये ऐसा कुछ नहीं कर सकता ? किया और ऐसा किया कि मत्त तम का विनाश हो गया। तारा का उदय हुआ और सुन्दरी का शृंगार भी बन गया।

गोस्वामी तुलसीदास के भावमय रूपकों के विषय में और अधिक न कह कर अब कुछ दूसरे वर्ग के रूपकों पर भी दृष्टिपात करना चाहिये। मृगेन्द्र का रूपक तो आ ही चुका। अब मृगांक की विधि देखिये।

रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर,
दिन दिन बिकल सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्धि मुनि,

होत न बिसोक ओत पावै न मनाक सो ॥
राम की रजाय तें रसायनी समीर सूनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो ।
जातुधान बुट पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो ॥
—कवितावली, सुन्दर, २५

रसायन से तुलसीदास ने जो काम लिया है, वह राजरोग को दूर करने में समर्थ है, कुछ भरपेट भोजन देने में नहीं। उसके हेतु तो नाना पकवान ही तृप्तिकर होता है। इसी से तो तुलसी को कहना पड़ा—

हाट बाट हाटक पिघलि चलो घी सो घनो,
कनक कराही लंक तलफति ताय सों ।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों ॥
पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो,
हनुमान सनमानि के जेंवाये चित्तचाय सों ।
तुलसी निहारि अरि नारि दै दै गारी कहैं,
बावरे सुरारि बैर कीन्हों राम राय सों ॥
—कवितावली, सुन्दर, २४

तुलसीदास के इस रूपक में 'गारी' का जो विधान हो गया है वह किसी किसी की दृष्टि में चिन्त्य भी हो सकता है, किन्तु थोड़ा कष्ट करने से अवगत होगा कि तुलसीदास ने यहाँ भी 'गारि नाग सुनि अति अनुरागे' एवं 'समय सुहावनि गारि विराजा' को ही लक्ष्य में लिया है। अरि-नारि की गालियों से पाहुने कृसानु को आनन्द-रस प्राप्त हुआ, इसमें सन्देह नहीं, और यह भी प्रकट ही है कि जो 'बैर कीन्हो राम राय सों' का

उल्लेख हुआ है वह भी इसी गाली का अंग है, जिसे एक प्रकार की व्याज-स्तुति ही समझिये। 'बावरे मुरारि' रावण से बैर करते नहीं बना, यही तो इसका प्रस्तुत अर्थ है। इसकी व्यंजना भी प्रकारान्तर से यही होगी कि कैसा बढ़िया वैर किया कि आगे चलकर सबकी गति हो गई। सम्बन्ध शुभ और मंगल-प्रद रहा।

तुलसीदास का एक और भी विलक्षण रूपक लीजिये। यहाँ तुलसी का कुछ और ही रंग है। बड़े ही सद्भाव से स्निग्ध वाणी में उपदेश देते हैं —

सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी
समनि-सोक - संताप - पाप- रुज, सकल-सुमंगल-रासी।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुर बासी
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अबिनासी।
अंतर अयन अयन भल, थल फल, बच्छ बेद- बिस्वासी
गल कंबल बरुना बिभाति, जनु लूम लसति सरितासी।
दंडपानि भैरव बिसान, मलरुचि खलगन भयदा सी
लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन, करन घंट घंटा सी।
मनिकर्निका-बदन-ससि-सुन्दर, सुरसरि सुख-सुषमा सी
स्वारथ - परमारथ - परिपूरन पंचकोस महिमा सी।
बिस्वनाथ पालक कृपालु चित, लालति नित गिरिजा सी
सिद्ध सची सारद पूजहिं, मनु जुगवत रहति रमा सी।
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गव्य सुपंचनदा सी
ब्रह्म जीव सम राम नाम जुग आखर-बिस्व बिकासी।
चारितु चरित करम कुकरम करि मरत जीवगन घासी
लहत परमपद पय पावन जेहि, चहत प्रपंच-उदासी।
कहत पुरान रची केसव निज कर-करतूति-कला सी
तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जो भयो चहै सुपासी।

काशी को मोक्षदापुरी कहते हैं। उसमें अनुराग भी लोगों का न्यून नहीं है, पर उसके स्वरूप को हृदय में रमाया कैसे जाय? तुलसीदास ने देखा कि धेनु का स्वरूप तो सभी लोगों की आँखों में बसा होता है और लोग कामधेनु को जानते भी हैं बड़े ढब से। अतएव काशी को कलि की कामधेनु बना दो। लोक मेंऐसी धेनु कहाँ, जिससे मन की सारी कामना पूजे। तुलसीदास साहस के साथ कहते हैं कि निराश होने की आवश्यकता नहीं। देखते क्यों नहीं। काशी है क्या? इसी को कलिकाल में कामधेनु क्यों नहीं समझ लेते? इससे कौन सी कामना अधूरी रह जायगी? निदान इस काशी का रूप कामधेनु के रूप में अंकित हुआ और तुलसी ने यह निश्चय किया कि बस हर-पुरी में बस रहो। राम को जपो और काशी-कामधेनु का सेवन करो। तुलसीदास ने जीवन में जो कुछ देखा वह इतना ही नहीं था। उन्होंने रूपक से कुछ और भी काम लिया। वाच्य के रूप में जो बात खटकती है वही व्यंग्य के रूप में हृदय में अपना घर बना लेती है और लक्ष्य भी ठीक बैठ जाता है। तुलसीदास ने रूपक के द्वारा इसकी साधना भी की है। एक छोटा सा उदाहरण है —

> तुलसी जो नर देत हैं, जल में हाथ उठाय।
> प्रतिग्राही जीवै नहीं, दाता नरकै जाय॥
>
> —दोहावली, ४३३

दोहे में देखने में कोई खलने या खटकने की बात नहीं है, किन्तु समझने पर गंगापुत्रों के लिये यह बहुत ही कटीला है। जो लोग बंसी लगाते अथवा कटिया से मछली फँसाते हैं उनकी गति नरक नहीं तो और क्या होगी और मछली तो उस दान को लेकर बचती ही नहीं, नष्ट हो जाती है। दान है उत्तम पदार्थ, किन्तु तभी जब दाता और प्रतिग्राही में योग्यता और विवेक

हो। अन्यथा उसका परिणाम दुःखद ही होता है। तुलसीदास जानते हैं कि मन-मीन बड़ा चंचल है, उससे पार पाना कठिन है। अतएव अपने कौतुकी राम से प्रार्थना करते हैं —

कृपा-डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो।
हिय बिधि वेधि हरहु मेरो दुःख कौतुक राम तिहारो ॥

इस रूपक को दृष्टि में रखकर उस मछली के व्यंग्य रूपक को देखें और फिर कहें कि तुलसीदास किस समय किस ढव से क्या कहना जानते हैं और कब और कैसे अपना लक्ष्य सटीक साधते हैं। सबकी अवस्थिति तो सामने आ गई, पर तुलसी की अभी आँख से ओझल ही है। लीजिए, आप ही यह भी बता जाते हैं —

बिरचि हरि भगति को वेस बर टाटिका,
कपट दल हरित पल्लवनि छावौं।
नाम लगि लाय लासा ललित बचन कहि,
व्याध ज्यौं विषय विहंगनि बझावौं ॥
—विनय, २०८

तुलसी का यह निवेदन भी ठीक वैसा ही है जैसा 'रामचरितमानस' का —

वंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के ॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधरच धोरी ॥
—बाल, १७

कहने को तो तुलसीदास ने अपने को ही ऐसा कहा है, किन्तु वास्तव में लक्ष्य रहा है सदा साधु-वेष ही।

व्याध का उपमान तुलसी के 'मानस' में वालि के प्रसंग में भी आया है। इसके द्वारा तुलसीदास ने अपने मनोगत भावों को वड़े ढंग से व्यक्त किया है। इनकी एक दूसरी उपमा लीजिये —

कुटिल करम लै जाय मोहिं जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जिनि छिन छोह छाँड़िये कमठ अंड की नाईं॥

विनय, १०३

'कर्म' और 'कृपा' को तुलसीदास ने कहाँ और किस रूप में लिया है, इसके अध्ययन को यदि छुट्टी न मिले तो इसी को ठीक से समझ लें और तुलसी के मर्म को पहिचान लें। कमठ कहीं भी रहे, उसे अपने अंडे की चिन्ता रहती ही है। वह वहीं से उसका पालन-पोषण करता रहता है। तुलसीदास ने इसे इस रूप में बराबर लिया है और इसी को कृपा का रूप भी माना है। गुड्डी पर भी तुलसीदास की दृष्टि बराबर रही है और इसके नाना रूपों को उन्होंने दरसाया भी खूब है। कहीं लक्ष्मण के चित्त की वृत्ति को दिखाया है तो कहीं गृद्ध के उपमान के रूप में उसे जुटाया है और कहीं माताओं की स्तब्धता को बताया है। कहते हैं—

भरत गति लखु मातु सब रहीं ज्यों गुड़ी बिनु बाय।

—लंका, १४

कहना तो यह चाहिये कि तुलसी के सभी स्थलों की पतंगों को एकत्र किया जाय तो उसकी सारी प्रक्रिया आप ही प्रकट हो जाय और चंग-कला भी प्रत्यक्ष हो जाय। परन्तु हम तुलसी की उपमा को कुछ और ही रूप में देखना चाहते हैं और उसके द्वारा बताना यह चाहते हैं कि तुलसीदास ने उपमा से भी बड़ा गहरा काम लिया है। पात्रों की कुंजी उनकी उपमा ही है। 'ब्रह्म जीव बिच माया जैसी' की तो बात छोड़िये। तुलसीदास कुछ सोच-समझकर ही लिखते हैं—

जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे।
सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं॥

—अयोध्या, १४२

इसमें 'लपन' को जो अविवेकी पुरुष का उपमेय बनाया गया है वह सहसा बेतुका प्रतीत होता है और खटक भी खूब जाता है, परन्तु यदि पूरे चरित को लिया जाय तो यह उनके चरित में अक्षरशः खरा उतरता है। लक्ष्मण सीता और राम के सेवक हैं और सेवा उसी रूप में करते हैं जैसे अविवेकी पुरुष शरीर की सेवा करता है। 'मानस' में न जाने कितने स्थल ऐसे आते हैं जहाँ इस विवेकहीनता के कारण ही राम को उन्हें बरजना पड़ता है। यहाँ तक कि राम जब सीता को छोड़ कर मृग-वध में निरत होते हैं तब लक्ष्मण को सचेत कर कहते हैं—

सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिवेक बल समय बिचारी॥

कारण यह कि 'फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई।' कहा तो समझाकर, पर लक्ष्मण ने किया क्या? और जब राम ने इनसे कहा कि मेरी बात की उपेक्षा कर जो तुम यहाँ आ गये सो अच्छा नहीं हुआ, हो न हो निशिचरों ने कुछ जाल रचा हो, तो इनसे कुछ कहते तो बना नहीं, हाँ इतना अवश्य दीनता के साथ कह दिया—

गहि पद कमल अनुज कर जोरी। कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी॥

सुगम होगा यदि इतना और भी जान लें कि इसी उपमा के द्वारा तुलसी ने राजा और रानियों के जोगाने में भी भेद दिखा दिया है। सुनिये—

राम सुना दुख कान न काऊ। जीवन तरु जिमि जोगवइ राऊ॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिन राती॥

—अयोध्या, २०१

बस जहाँ कहीं आपको तुलसी में 'जोगवत' दिखाई दे वहाँ सतर्क होकर देख लें कि वास्तव में तुलसी क्या कहना चाहते हैं और उनकी उपमा वहाँ अपना क्या करतब दिखाती है। भाव-दृष्टि से तुलसीदास की उपमा कम चोखी नहीं होती। जनक

रंगभूमि में जुटे हुए राजा लोगों से कुछ कड़ी बात कहते हैं तो सभी वीर लज्जावन्ती का रूप धारण कर लेते हैं और पक्के छुईमुई बन जाते हैं—

जनक बचन छुए बिरवा लजारू के से बीर रहे सकल सकुचि सिर नाइ के।
—गीतावली, बाल, ८२

भाव नहीं, यहाँ तो अनुभाव की बहार है। जनक वचन से तो इनकी यह गति हुई। उधर भरत-वचन से चित्रकूट की सभा की स्थिति कुछ और ही हो जाती है। सभा सहित मुनि विदेह हो गये, किन्तु उनकी मति अबला सी ही रही। तुलसीदास लिखते हैं—

भरत महामहिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला सी।
गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥
—अयोध्या, २४७

स्तब्धता के साथ यदि चंचलता का दर्शन करना हो तो भरत की दशा को लीजिये और भर आँख देखिये कि—

फेरति मनहुँ मातृकृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रवाह जल अलि गति जैसी॥
—अयोध्या, २३४

और यदि विवशता की व्यंजना प्रिय हो तो मंदोदरी की उक्ति को लीजिये। किस विषाद से कहती है—

कंत बीस लोचन बिलोकिए कुमंत फल,
ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की सी झोपड़ी।
—कविता०, सुन्दर, २७

और राम ? उनकी शोभा का कहना ही क्या—

कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों।
मरकत सयल पर लरत दामिनि कोटि सो जुग भुजग ज्यों॥
—अरण्य, १२

चाहें तो इसे 'अभूत उपमा' कह लें। दामिनि को तुलसीदास ने यहाँ पिंगल जटा के उपमान के रूप में लिया है, जिससे उनकी सच्ची सूझ का पता चलता है। बालों से बिजुली का जो लगाव है उसको लोग जानते ही हैं। विद्युत्-गति में स्फूर्ति की व्यंजना है, जिससे राम की फुर्ती और उमंग का बोध होता है और साथ ही भविष्य के संग्राम का द्योतन भी।

उत्प्रेक्षा और रूपक के प्रसंग में बीच-बीच में उपमा जो कौशल दिखाती रही है वह है तो महत्त्व का, किन्तु वहाँ उतना प्रबल नहीं। उसकी प्रबलता को देखना हो तो राम-कथा को देखिये। तुलसीदास किस हुलास से कहते हैं—

राम कथा कलि पन्नग भरनी। पुनि विवेक पावक कहँ अरनी॥
राम कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई॥
सोइ बसुधा तल सुधा तरंगिनि। भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि॥
असुर सेन सम नरक निकंदिनि। साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि॥
संत समाज पयोधि रमा सी। बिस्व भार भर अचल छमा सी॥
जम गन मुँह मसि जग जमुना सी। जीवन मुकुति हेतु जनु कासी॥
रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी॥
सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी। सकल सिद्धि सुख संपति रासी॥
सदगुन सुरगन अंब अदिति सी। रघुबर भगति प्रेम परिमिति सी॥

—बाल, ३६

राम-कथा की इस मालोपमा में जो रूपक और उत्प्रेक्षा का विधान हो गया है वह उसके उत्कर्ष का कारण है। तुलसीदास का मन जितना 'सी' में रमा है उतना किसी में नहीं। तो भी यह कहना ही होगा कि रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा सभी ने जो काम मिलकर किया है वह उल्लेख के योग्य है। 'सकल सिद्धि सुख संपति रासी' में वही बोल भी उठा है।

राम-कथा के साथ ही राम-चरित को भी लीजिये। तुलसी-

दास स्त्री और पुरुष के भेद को समझते हैं और बूझते हैं कथा और चरित के भेद को भी। अप्रस्तुत प्रस्तुत को रमणीय और सुबोध बनाने के निमित्त ही लाया जाता है, कुछ योंही मैदान मारने किंवा करतब दिखाने के हेतु नहीं। यहाँ 'सी' नहीं 'से' है और है 'के' के उपरान्त ही। हाँ, राम-चरित को लख तो लीजिये और इस 'के' तथा 'से' के महत्त्व को जान तो जाइये। लीजिये—

रामचरितचिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥
जग मंगल गुन ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥
सद्गुरु ग्यान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव भीम रोग के॥
जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के॥
सचिव सुभट भूपति बिचार के। कुंभज लोभ उदधि अपार के॥
काम कोह कलिमल करि गन के। केहरि सावक जन मन बन के॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद-घन दारिद दवारि के॥
मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥
हरन मोह तम दिनकर कर से। सेवक सालि पाल जलधर से॥
अभिमत दानि देव तरुवर से। सेवत सुलभ सुखद हरिहर से॥
सुकबि सरद नभ मन उडुगन से। राम भगत जन जीवन धन से॥
सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जग हित निरुपधि साधु लोग से॥
सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से॥

कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दंभ पाखंड।
दहन राम गुन ग्राम जिमि, इंधन अनल प्रचंड॥
रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड़ लाहु॥

—बाल, ३७

कितना व्यापक, कितना गंभीर और कितना उदार है यह चरित! और साथ ही प्रचंडता भी कुछ न्यून नहीं है। संक्षेप में,

इसको सुखद तो है ही, विशेष प्राणियों के लिये विशेष लाभप्रद भी है।

राम-कथा और राम-चरित का उल्लेख तो हो गया, परन्तु अभी राम का रूप दृष्टिगोचर नहीं हुआ। सो उसे भी देख लें और देख लें राम और लक्ष्मण की भिन्नता को भी। तुलसीदास किस कुशलता से बताते हैं—

राज समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥
जिन्ह कै रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप बेखा। तिन्ह प्रभु प्रगट कालै सम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई॥

नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप॥

बिदुषन प्रभु बिराट मय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख दाता॥
रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ॥
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥

राजत राज समाज मँह, कोसल-राज-किसोर।
सुंदर स्यामल गौर तनु, बिस्व बिलोचन चोर॥

—बाल, २४७

उल्लेख की व्याप्ति कहाँ तक है, इसका ठीक-ठीक निर्णय तभी है जब तुलसी का व्यापक अध्ययन हो ले। राम को यहाँ लोगों ने अपनी अपनी भावना के अनुरूप देखा है और

देखकर ही वे तृप्त अथवा खिन्न हो गये हैं। इसी राम को आगे चल कर फिर भी लोगों, विशेषकर देवताओं, ने अपने-अपने ढंग से देखा है, किन्तु उन्हें देखने से सन्तोष नहीं हुआ है। उस समय किसी के मन में अपना कोई अभाव खटका है तो किसी को अपनी विषमांगता पर ही हर्ष हुआ है और किसी ने किसी शाप ही को मंगल-प्रद मान लिया है। भावार्थ यह कि सबको कुछ न कुछ अपनी वासना के अनुकूल प्राप्त हुआ है और किसी किसी को तृप्ति भी मिली है। किसी को पछताना भी पड़ा है। संक्षेप में, अपनी अपनी पूँजी और अपनी-अपनी करनी और अपनी-अपनी लालसा यहाँ भी सबके साथ रही है और रही है इसलिये कि सभी अपने-अपने भाव में राम के सौन्दर्य को व्यक्त करें। तुलसी का यह उल्लेख भी दर्शनीय है। कारण कि यहाँ बड़ों-बड़ों के जी में बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं, किन्तु जन-समाज में हर्ष ही हर्ष है। राम दूलह के रूप में असवार हैं। उन पर लोगों की दृष्टि पड़ी तो—

> संकर राम रूप अनुरागे। नयन पंच दस अति प्रिय लागे॥
> हरि हित सहित रामु जब सोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥
> निरखि राम छवि बिधि हरषाने। आठै नयन जानि पछिताने॥
> सुरसेनप उर बहुत उछाहू। बिधि तें डेवढ़ सुलोचन लाहू॥
> रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥
> देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥
> मुदित देव गन रामहि देखी। नृप समाज दुहु हरष बिसेखी॥

—बाल, ३२२

तुलसीदास ने एक तथ्य को दृढ करने तथा मर्मभेदी बनाने के विचार से नाना उपमानों का प्रस्तुत किया है और उनकी लड़ी सी लगा दी है। कहीं-कहीं तो हम उनको माला के रूप में पाते हैं, पर प्रायः ऐसा होता नहीं है। हमारी समझ में इन सभी

स्थलों को उल्लेख के रूप में ही ग्रहण करना चाहिये। उल्लेख का मूल संकेत है उरेहना अर्थात् किसी वस्तु को चित्रित करके दिखा देना। गोस्वामी तुलसीदास ने किया यह है कि जहाँ कहीं किसी सिद्धान्त, किसी नीति, किसी मर्यादा या किसी सौन्दर्य का उल्लेख किया है वहाँ एक दो अप्रस्तुतों से ही सन्तोष नहीं किया है। नहीं, उसकी योग्यता के अनुसार उसके अप्रस्तुतों की वृद्धि की है और उनकी संख्या भी बराबर बढ़ती रही है। प्रमाण के लिये इतना पर्याप्त होगा—

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके॥
परद्रोही की होइ निसंका। कामी पुनि कि रहहि अकलंका॥
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें। करम कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें॥
काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभ गति पाव कि परत्रिय गामी॥
भव कि परहिं परमात्मा बिंदक। सुखी कि होंहि कबहुँ हरि निंदक॥
राजु कि रहै नीति बिनु जाने। अघ कि रहहि हरि चरित बखाने॥
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावै कोई॥
लाभु कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥
हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिं नर तन पाई॥
अघ कि बिना तामस कछु आना। धर्म कि दया सरिस हरिजाना॥
एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनेऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनेऊँ॥

—उत्तर, ११२

तुलसीदास के प्रमुख अलंकारों में एक ही अलंकार ऐसा रहा जिसका उल्लेख अभी नहीं हुआ। वह है दृष्टांत। दृष्टांत की कोटि के अलंकारों का ध्येय होता है किसी बात को पुष्ट करना और यथातथ्य मन में बिठा देना। व्यास लोग कथा बाँचते समय जब तक कोई दृष्टांत नहीं देते तब तक उन्हें सन्तोष ही नहीं होता। दृष्टान्त, उदाहरण और अर्थान्तरन्यास में थोड़ा सा अन्तर बताया गया है। दृष्टांत और उदाहरण में केवल

वाचक का भेद माना जाता है। नहीं तो होता है दोनों में ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव। हाँ, अर्थान्तरन्यास में अवश्य ही सामान्य से विशेष को अथवा विशेष से सामान्य को पुष्ट करते हैं। इसमें सामान्य से सामान्य और विशेष से विशेष का समर्थन नहीं होता। प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना भी इसी कोटि के अलंकार हैं, जो थोड़े से भेद के कारण स्वतंत्र मान लिये गये हैं। प्रतिवस्तूपमा में 'धर्म' पर दृष्टि रहती है और निदर्शना में उपमान की अपेक्षा। अर्थात् दृष्टान्त में कुछ विशेषता होने पर ही ये अलंकार सिद्ध होते हैं। प्रतिवस्तूपमा में जो उपमा है उसी को यदि दृष्टांत के प्रसंग में ग्रहण करें तो इसे प्रति-बिम्बोपमा कह सकते हैं। भाव यह कि यह सब उपमा का ही खेल है। विशेषता यह है कि इसमें सादृश्य की नहीं, समर्थन की भावना प्रबल होती है। इसी से इसकी आवश्य-कता भी नीति, सदाचार और तथ्य-निरूपण में जितनी पड़ती है उतनी अन्यत्र नहीं। तुलसीदास ने इन अलंकारों को भी अपनाया है और इनसे काम भी पूरा लिया है। इनमें भी उदाहरण को ही विशेष महत्व दिया है, क्योंकि वाचक के प्रस्तुत होने के कारण यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव उपस्थित करने और उसे हृदयग्राही बनाने में और भी समर्थ होता है। तुलसीदास ने इन अलंकारों से सबसे अधिक काम लिया है 'विनय-पत्रिका' में। कारण कि यही उनका मुख्य सिद्धांत-ग्रन्थ है और इसी में उनको बार-बार उद्बोधन की आवश्यकता भी पड़ी है। मन का रोना जितना यहाँ रोया गया है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। कहते हैं—

मेरो मन हरि, हठ न तजै।
निसि दिन नाथ, देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै॥
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।

है अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै ॥
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ॥
हौं हार्यो करि जतन विविध बिधि, अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥

—विनय, ८६

हठ छोड़ता नहीं और उसकी टेक है अनहोनी। इसी से तुलसी का कहना है—

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की ॥
धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की ॥
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की ॥
टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की ॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति मन की ॥
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥

—विनय, ६०

फलतः निराश होकर झंखते हैं—

माधव, मोह फाँस क्यों टूटै।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ॥
घृत पूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाइ कलप सत औटत नास न पावै ॥
तरु कोटर महं बस बिहँग, तरु काटो मरै न जैसे।
साधन करिय विचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे ॥
अंतर मलिन, विषय मन अति, तन पावन करिय पखारे ॥
मरै न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे ॥
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना-बिनु बिमल बिवेक न होई।

बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई ॥

—विनय, ११५

निदान राम से विनय करते हैं—

जैसो हौं तैसो हौं राम, रावरो जन जनि परिहरिये।
कृपासिंधु कोसलधनी सरनागत-पालक, ढरनि आपनी ढरिये॥
हौं तो बिगरायल और कौ, बिगरो न बिगरिये।
तुम सुधारि आए सदा सब की सब बिधि, अब मेरियो सुधरिये॥
जग हँसिहै मेरे संग्रहे, कत एहि डर डरिए?
कपि केवट कीन्हें सखा जेहि सील सरल चित तेहि सुभाव अनुसरिए॥
अपराधी, तउ आपनो तुलसी न बिसरिए।
टूटियो बाँह गरे परे, फूटेहूँ बिलोचन पीर होति हित करिए॥

—विनय, २७१

और उधर कौसल्या से विलख कर कह रही हैं—

"कीजै कहा जीजी जू!" सुमित्रा परि पाँय कहै
"तुलसी सहावै बिधि सोई सहियतु है।
रावरो सुभाव राम जन्म ही तें जानियत
भरत की मातु को कि ऐसो चहियतु है?
जाई राजघर, ब्याहि आई राजघर माँहि,
राज-पूत पाए हूँ न सुख लहियतु है।
देह सुधागेह ताहि मृगहू मलीन कियो,
ताहु पर बाहु बिनु राहु गहियतु है।"

—कविता० अयोध्या, ४

उदाहरण, अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त के जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे तुलसी की प्रकृति का पता चल गया होगा। तुलसी-दास इस कोटि के अलंकारों से जो काम लेते हैं उसे संक्षेप में

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥

बिधुबदनी सब भाँति सवाँरी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥
जदपि कबित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माँही॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥
धूमौ तजै सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगंध बसाई॥
भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। राम-कथा जग मंगल करनी॥

मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता सरित की ज्यौं सरित पावन पाथ की॥
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥

प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग॥
स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

—बाल, १९

इसमें तुलसीदास ने वस्तु अथवा वर्ण्य विषय का जो महत्त्व दिखाया है उनकी अवहेलना हो नहीं सकती। उसके सम्बन्ध में कुछ निवेदन करने के पहले तुलसी की 'निदर्शना' के बारे में भी कुछ कह देना चाहिये। 'सुजन मन भावनी' और 'सुहावनि पावनी' में प्रतिवस्तूपमा है तो 'प्रिय लागिहि' में निदर्शना। काव्य की दृष्टि से निदर्शना में जो रमणीयता है वह इस कोटि के दूसरे किसी अलंकार में नहीं। निदर्शना का रम्य रूप देखना हो तो सीता के प्रसंग को ले लें। सीता की माता स्नेहवश बिलखा कर कहती हैं—

सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥
कोउ न बुझाइ कहइ गुर पाहीं। ए बालक अस हठ भल नाहीं॥

रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥
सो धनु राजकुँअर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं॥
भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जात न जानी॥

—बाल, २६१

सखी मृदु वाणी में समाधान करती है कि तेजस्वी पुरुष की की अवस्था नहीं देखी जाती। कारण कि—

कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा॥
रवि मंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा॥
मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महा मत्त गजराज कहुँ, बस कर अंकुस खर्ब॥
काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥
देवि तजिअ संसय अस जानी। भंजब धनुष राम सुनु रानी॥

—बाल, २६२

इसी स्थिति में स्वयं सीता के हृदय में जो बीतती है वह है—

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥
अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥
बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिय हीरा॥
सकल सभा कै मति भइ भोरी। अब मोहि संभु चाप गति तोरी॥
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी॥

—बाल, २६३

और जब सीता राम के साथ वन-गमन का आग्रह करती हैं तब राम भी इसी निदर्शना से काम लेते हैं और बहुत ही समझा-बुझा कर कहते हैं—

हंस गवनि तुम नहिं बन जोगू। सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू॥

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली । जिअइ कि लवन पयोधि मराली ॥
नव रसाल बन बिहरन सीला । सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥
—बाल, २६

तुलसी के प्रमुख अलंकारों से कविता का कितना और कैस शृंगार हुआ है इसका बोध तो कुछ न कुछ हो ही गया होगा इसी प्रसंग में इसी को और भी स्पष्ट करने के विचार से इतन और कहा जाता है कि तुलसीदास ने अनन्वय और असम तथा व्यतिरेक और प्रतीप से भी विशेष कार्य लिया है। उपम के प्रकरण में कहा गया था कि तुलसीदास ने उपमानों की उपेक्ष की है। प्राकृत जनों की उपमा राम और सीता जैसे अलौकि जनों से कैसे दी जा सकती है ? निदान तुलसी ने जहाँ उपमा की अवमानना के लिये व्यतिरेक और प्रतीप का उपयोग कि है वहीं उपमेय के उत्कर्ष के निमित्त अनन्वय और असम का असम का प्रयोग 'कवितावली' में बहुत हुआ है और नाना प्रका से तुलसीदास ने इसके द्वारा यह सिद्ध करना चाहा है कि रा के सदृश भक्तवत्सल और कोई है ही नहीं। आशा है अनन्व का यह उदाहरण पर्याप्त होगा—

तेरे बेसाहे बेसाहत औरनि, और बेसाहि कै बेचनहारे।
ब्योम रसातल भूमि भरे नृप क्रूर कुसाहिब सेंतिहुँ खारे ॥
तुलसी तेहि सेवत कौन मरै ? रज तें लघु को करै मेरु तें भारे ?
स्वामी सुसील समर्थ सुजान सो तोसों तुही दसरत्थ दुलारे ॥
—कवित्ता०, उत्तर, १

और असम का यह—

सूर सिरताज महाराजनि के महाराज,
जाको नाम लेत ही सुखेत होत ऊस
साहब कहाँ जहान जानकीस सो सुजान,
सुमिरे कृपालु के मराल होत खूस

केवट पषान जातुधान कपि भालु तारे,
अपनायो तुलसी सो धींग धूमधूसरो।
बोल को अटल, बाँह को पगार, दीनबन्धु,
दूबरे को दानी, को दयानिधान दूसरो?

—कवितावली, उत्तर, १६

तुलसीदास ने यदि अलंकार की दृष्टि से किसी काव्य की रचना की है तो बरवै रामायण की। मीलित-उन्मीलित, तद्‌गुण-अतद्‌गुण जैसे चमत्कारी अलंकार यहाँ अपनी अनुपम छटा में मिलेंगे। यहाँ हम कुछ इस ओर भी संकेत कर देना चाहते हैं कि तुलसीदास ने श्लेप और यमक को किस रूप में अपने काव्य में लिया है और परिसंख्या तथा अत्युक्ति को किस ढंग से चलता किया है। चलता करने का अर्थ यह नहीं कि तुलसी में परिसंख्या या अतिशयोक्ति है ही नहीं। नहीं, है, किन्तु तुलसी का उसमें अनुराग नहीं। तुलसी कविता को भटैती से भिन्न समझते हैं। यही कारण है कि जब राजा दशरथ रनिवास में विवाह का वर्णन करते हैं तब तुलसीदास उन्हें कवि के रूप में नहीं, भाट के रूप में पाते हैं। तुलसी लिखते हैं—

जनक राज गुन सीलु बड़ाई। प्रीति रीति संपदा सोहाई।
बहु बिधि रूप भाट जिमि बरनी। रानी सब प्रमुदित सुनि करनी॥

—बाल, ३५६

उधर राम की प्रशंसा में जब जामवन्त कुछ कहते हैं तब पवनकुमार हनूमान भी कुछ और भी आगे की कह जाते हैं। राम सुन तो लेते हैं, पर कुछ कहते नहीं हैं। प्रत्युत अनसुनी सी कर देते हैं। देखिये हनूमान कितनी दूर की सुनाते हैं—

प्रभु प्रताप बड़वानलु भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥
तव रिपु नारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयेउ तेहि खारा॥

सुनि श्रतिउ -कृति पवनसुत केरी । हरषे कपि रघुपति तन हेरी ॥

—लंका, १

प्राय: कवियों की परिपाटी सी रही है कि वे रिपु-नारि रुदन में नायक का उत्कर्ष दिखाते आये हैं, किन्तु यह तुलसी को प्रिय नहीं। तुलसी की रिपु-नारियाँ इतना रोतीं ही नहीं कि समुद्र का पारावार ही उमड़ पड़े। उनके लिये तो बस इनता ही पर्याप्त है कि प्रभु-प्रताप से जो जल सूख गया वही फिर रिपु-नारियों के नेत्रों से उमड़ आया और राम-रस से आप्लावित होने के कारण खारा हो गया। किन्तु सुजान राम जिस उक्ति से बिहँस पड़ते हैं वह कुछ और ही है। सुनिये —

कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति, सोइ स्यामता अभास ॥

—लंका, १२

अस्तु; काव्य-मीमांसकों का कहना है कि परिसंख्या में रमणीयता और भी आ जाती है, यदि वह श्लेष पर टिकी हो। तुलसीदास ने रामचन्द्र के राज्य में इसको भी निभा दिया है—

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिअ अस, रामचंद्र के राज ॥

—उत्तर, २२

तुलसी में श्लेष कई अर्थों को लेकर खड़ा नहीं हुआ है, अर्थात् उसके प्रयोग में तुलसी की दृष्टि अर्थ पर उतनी नहीं रही है जितनी कि पात्र पर। तुलसी श्लेष का प्रयोग गूढ़ गिरा, व्यंग्य और काकु के निमित्त करते हैं, कुछ चमत्कार और पांडित्य के हेतु नहीं। अतएव तुलसी का कोई छन्द ऐसा नहीं जिसका दोहरा-तेहरा अर्थ हो। हाँ, सबसे अधिक चमत्कार का लोभ आपको दिखाई देगा 'सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषण सहित' में ही। पर वह इससे

आगे और नहीं बढ़ेगा। फिर आपका ऐसा दूसरा चमत्कार मिलेगा—

'रावन सिर सरोज बनचारी, चलि रघुबीर सिलीमुखधारी'

में। किन्तु यहाँ भी 'सिलीमुख' का ही अर्थ भ्रमर और बाण दोनों है। अन्यथा किसी और शब्द में श्लेष नहीं है। विचारने की बात है कि तुलसीदास ने यहाँ रावण के दस सिर को अपना लक्ष्य बनाया है और उसका रस लेने के विचार से ही राम का बाण-समूह चला भी है। निदान—

'तासु तेज समान प्रभु आनन, हरखे देखि संभु चतुरानन'

की विधि भी यहाँ इसी उपमान में बैठ गई है।

उधर तुलसीदास ने नारद-मोह-लीला में 'हरि' शब्द के श्लेष में कितना हास्य भरा है उसको कोई भी व्यक्ति समझ सकता है। उसको जानना बस इतना भर है कि 'हरि' का अर्थ विष्णु ही नहीं बन्दर भी होता है। अतः शिवजी के गण बड़े ही ढब से महामुनि नारद से कहते हैं—

नीकि दीन्ह हरि सुन्दरताई और—

रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी। इनहिं बरिहि हरि जानि बिसेखी॥

—बाल, १३६

इसी प्रकार तुलसीदास ने 'मोर' शब्द की निरुक्ति भी बढ़िया निकाल ली है। 'मोर' बना तो 'मयूर' से है, किन्तु तुलसीदास कहते हैं कि इसको 'मोर' कहने का कारण कुछ और ही है। सुनिये—

तनु बिचित्र कायर बचन, अहि अहार मन घोर।
तुलसी हरि भये पच्छधर, ताते कहत सब मोर॥

—दोहावली, १२७

भला ऐसे विकट प्राणी पर हरि की कृपा न होती तो कोई भी उसे मोर या मेरा कहता?

और लगने और लागने की लाग भी तो कुछ और

होती है। देखिये रानी कैकेयी की परमप्रिय सयानी सखियाँ उसे समझाती हुई कहती हैं—

जौं नहि लगिहहु कहें हमारे। नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे॥

—अयोध्या, ५०

यमक के साथ ही अनुप्रास का विधान तुलसी में अधिक नहीं। पर जहाँ है अच्छा और ढंग का है। अवधूत शिव पर तुलसी की जैसी कृपा है वह तो व्यक्त ही है। तुलसी की भक्ति तो देखिये। किस न्याय से लिखते हैं—

नाँगो फिरै कहै माँगतो देखि न खाँगो कछू, जनि माँगिए थोरो।
राँकनि नाकप रीझि करै, तुलसी जग जो जुरै जाचक जोरो॥
"नाक सँवारत आयो हौं नाकहिं, नाहिं पिनाकिहि नेकु निहोरो।"
ब्रह्म कहै "गिरिजा, सिखवो, पति रावरो दानि है बावरो भोरो॥"

—कवित्ता०; उत्तर, १५३

साथ ही इतना और भी—

सीस बसै बरदा, बरदानि, चढ्यो बरदा, घरन्यो बरदा है।
धाम धतूरो बिभूति को कूरो, निवास तहाँ शव लै मरे दाहै॥
व्याली कपाली है ख्याली, चहूँ दिसि भाँग की टाटिन को परदा है।
राँक सिरोमनि काकिनिभाग बिलोकत लोकप को करदा है॥

—वही, १५५

सच है, तुलसी चमत्कार के कवि नहीं हैं, पर चमत्कार के क्षेत्र में कहीं चूकते भी नहीं हैं। प्रमाण के लिये इस कथन को ही ले लीजिये—

अवधपुरी सोहै एहि भाँती। प्रभुहिं मिलन आई जनु राती॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥
अगर धूप जनु बहु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥
मंदिर मनि समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इंदु उदारा॥
भवन वेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी॥

कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइँ जात न जाना॥
मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानै कोइ।
रथ समेत रबि थाकेउ, निसा कवन बिधि होइ॥

—बाल, २००

रात्रि को कामना हुई कि प्रभु का दर्शन करे। चल भी पड़ी, पर भानु के कारण उसकी विधि न बनी। विवश तो हो गई, किन्तु ध्येय से विचलित नहीं हुई। उसने संध्या का रूप धारण कर लिया। उधर भानु को अपनी सुधि नहीं रही और वहीं पूरे मास भर जम रहे। भानु ही नहीं, इन्दु भी उसी रूप में बने रहे। सारांश यह कि तुलसीदास ने रात-दिन और सूर्य-चंद्रमा को साथ-साथ लुभा दिया और संध्या की ऐसी छवि उतारी कि होली का दृश्य प्रस्तुत हो गया। पतंग मास भर जहाँ का तहाँ रहा तो तुलसीदास ने पतंग भी मास भर पहले का दिखाया। इस प्रकार एक मास व्याज में मार लिया। इसे तुलसीदास का चमत्कार कहिये अथवा कला, पर है किसी भी दृष्टि से अनूठी, अनुपम और रमणीय ही। समयानुकूल अप्रस्तुत-विधान में तुलसी कितने दक्ष, निपुण और कुशल हैं और उनकी प्रतिभा कल्पना के क्षेत्र में कितनी प्रखर है आदि बातों को और भी अधिक बढ़ाकर कहने से कोई लाभ नहीं। कारण कि —

तुलसि बिमल जसु बिमल बिधु, सुमति चकोर कुमारि।
उदित बिमल जन हृदय नभ, एक टक रही निहारि॥

बस, तुलसी की कौमुदी को एकटक निहारने के अतिरिक्त और कोई दूसरा चारा नहीं। 'रस विशेष' की यही पुकार है।

वर्ण्य-विचार

गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य में वस्तु किंवा विषय अथवा चरित को बहुत महत्व दिया है और रामचरितमानस में तो इसकी स्थापना भी कस कर की है। इससे सामान्यतः सहसा यह धारणा हो जाती है कि तुलसी में नाना प्रकार की प्राकृत वस्तुओं के वर्णन का सर्वथा अभाव होगा। किन्तु है यह वास्तव में निपट अनारी बात। कारण कि तुलसीदास ने जिस राम के चरित को लिया है वह राम सचमुच घट-घट में रमा और कण-कण में बसा राम है। घर और वन का कोई कोना उससे अछूता नहीं। हाँ, है तो वह राजकुमार और जन्म भी लेता है राजनगरी में ही, किंतु उसके चरित का विकास होता है वन में—ऋषि-मुनियों के साथ ही नहीं, कोल-किरातों और वानर-भालुओं के बीच भी। सारांश यह कि उसका जीवन स्वयं इतना व्यापक और उदार है कि उसको लेकर चलने में किसी की अवहेलना हो नहीं सकती। यह तो हुई चरित की बात। तुलसी के लिखने का ढर्रा भी ऐसा रहा है कि इसकी डगर से कोई भी छूट नहीं सकता। चरित को केवल चरित के रूप में नहीं लिया गया है, अपितु मानस का उससे जो लगाव है उसको लक्ष्य में रखकर उस चरित के ललित और अद्भुत रूप को उभार कर लोक-जीवन का उद्धार किया गया है, और यह प्रत्यक्ष दिखाया गया है कि धर्म, आचार और व्यवहार किस प्रकार लोक-जीवन में मंगल का विधान करते हैं और काव्य किस प्रकार सरस शास्त्र के रूप में घर-घर फैलाया जा सकता है। प्रत्यक्षीकरण की इसी प्रेरणा से रामचरितमानस

में संवादों की योजना हुई है। वैसे तो 'मानस' के चार संवाद हैं ही, किन्तु सच पूछिये तो रामचरितमानस में संवाद ही संवाद हैं। स्वयं कवि भी संयोजक के अतिरिक्त संवाद का एक अंग अथवा वक्ता भी है। रामचरितमानस का प्रतिपाद्य विषय है राम का प्रभु होना, ऐसा प्रभु होना जिसकी प्रभुता के परे कुछ है ही नहीं। प्रमुख संवादों के वक्ता इसका प्रतिपादन करते हैं सो कोई बात नहीं। उनका तो कार्य ही यह है। परन्तु 'मानस' की विशेषता तो यह है कि उसके सभी पात्र जैसे-तैसे जहाँ-तहाँ राम के इसी रूप के प्रतिपादन में मग्न हैं, जिसका सुलभ परिणाम यह है कि समस्त 'मानस' में तुलसी का अध्यात्म बिखर जाता है और समय-समय पर देश, काल तथा पात्र के अनुसार कुछ न कुछ कहते रहने का उन्हें अवसर मिलता जाता है। अध्यात्म के अतिरिक्त यह भी समझ लेना होगा कि रामचरितमानस में राजकुल की प्रधानता है। राम और रावण का कहना ही क्या ? निषाद, सुग्रीव, जामवंत और हनूमान भी सामान्य कुल के जीव नहीं, सभी अपने-अपने कुल के राजा हैं। अस्तु, इसका निष्कर्ष निकला कि रामचरितमानस में नीति की प्रचुरता है—समाज-नीति, धर्म-नीति और राज-नीति, किसी भी नीति की। रामचरितमानस के पात्र इसी से जब कभी कुछ विशेष परिस्थिति में कहते या करते हैं तब नीति का उल्लेख करते हैं और उसकी उद्धरणी सी कर जाते हैं। इसी का परिणाम है कि उसमें नीति की प्रचुरता भी पर्याप्त है। इतना ही नहीं, जन्म से लेकर मरण तक के, राज-मन्दिर से लेकर पर्णकुटी तक के, सारे कृत्य उसमें समा गये हैं और जीवन का कोई अंग अछूता नहीं रह गया है। महाकाव्य का लक्षण बताते समय संस्कृत के आचार्यों ने बहुत से विषयों का उल्लेख किया है और कवियों की सुविधा के लिये

उनका निर्देश तक कर दिया है। साहित्यदर्पणकार महापात्र विश्वनाथ का कहना है —

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंश भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ ३१६
शृंगारवीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥ ३१७
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ ३१८
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ ३१९
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्तकैः ।
नाति स्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२०
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ ३२१
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तु वनसागराः ॥ ३२२
संभोगविप्रलम्भौ च मुनि स्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्र पुत्रोदयादयः ॥ ३२३ ?
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनाम तु ।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥ ३२५
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धके नैतत्क्वाचिद्गलितकैरपि ॥ ३२६
अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानिच्छन्दांसि विविधान्यपि ॥ ३२७

भाषा विभाषा नियमात्काव्यं सर्गसमुत्थितम् ।
एकार्थं प्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥ ३२८-१६

तुलसीदास ने किसी आचार्य को अपना गुरु वा आचार्य मानकर काव्य नहीं किया है। उनका मार्ग निराला है और ऐसा निराला है कि उसमें कोई असमंजस नहीं, कोई खभार नहीं; सबकी उचित व्यवस्था है। भाव और विचारों में ही नहीं, पद्धति और रीति में तुलसीदास ने सबको समेट लिया है। उन्होंने अपने महाकाव्य का ढर्रा अपने आप निकाला है और उसे सर्गबद्ध न करके सोपान-बद्ध कर दिया है और साथ ही रामायण के साथ हीं साथ 'आगम' और 'पुराण' की परिपाटी को भी अपना लिया है। इससे हुआ यह है कि महाकाव्य की सीमित भूमि से निकल कर और भी इधर-उधर विचरने का स्वतंत्र मार्ग निकल आया है और तुलसीदास ने उन वस्तुओं का भी वर्णन कर दिया जिनका उल्लेख किसी आचार्य ने नहीं किया था। तुलसी की यह व्यापकता जब रामचरितमानस में इतनी है तब अन्य ग्रन्थों में कुछ और भी होगी, इसमें सन्देह क्या? तुलसी का कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं जिसमें पिष्ट-पेषण मात्र हो। 'मंगल' हो, 'नहछू' हो, 'कवित्त' हो, 'गीत' हो, 'विनय' हो, 'बरवा' हो, 'दोहा' हो, कुछ भी क्यों न हो उसकी विशेषता भी सर्वदा अलग है और उसका विषय भी औरों से कुछ भिन्न ही। अस्तु, निधड़क हमारा कहना यह है कि तुलसी का वर्ण्य-विषय बहुत व्यापक और दूर तक फैला हुआ है। हाँ, सर्वत्र उसका फैलाव समान नहीं है। वह कहीं गूढ़ है, कहीं सूक्ष्म है, कहीं विस्तृत। जहाँ जैसा देश है, वहाँ वैसा वेष भी।

विषय ही नहीं, भाषा के क्षेत्र में भी तुलसी की यही स्थिति है। दृश्य काव्यों में तो संस्कृत के कवियों ने प्राकृत को स्थान दिया है, किन्तु महाकाव्यों में उनका नाम तक नहीं लिया है। और

लिया है तो उनमें महाकाव्य की रचना के रूप में। कहने को संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की वानगी एक साथ ही किसी महाकाव्य में मिल जाय, परन्तु परिपाटी तो इनकी बिलगाव की ही रही है और आचार्यों ने उनका अलग-अलग विधान भी किया है। महात्मा तुलसीदास ने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने रामचरितमानस के आरंभ में जहाँ 'संस्कृत', 'प्राकृत' और 'भापा' के कवियों को प्रणाम किया है वहीं इन भाषाओं में प्रणयन भी। संस्कृत और प्राकृत में प्राकृत का अर्थ भापा ही था। आगे चलकर प्राकृत जब वर्ग विशेप की संस्कृत हो गई और उसका लोक-भापा से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया, तब उसमें रचना करना मूड़ मारने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहा, और यदि रहा भी तो कोरा पांडित्य-प्रदर्शन। निदान तुलसी ने प्राकृत को नहीं लिया, लिया प्राकृत जान की भापा को। उन्होंने 'प्राकृत जन' का गुणगान नहीं किया, किया उनके शील और स्वभाव का उपदर्शन। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुलसी ने प्राकृतपन को त्याग दिया। नहीं, उन्होंने जहाँ-तहाँ उसके रूप की भी रक्षा की और अपने समय की किसी भी काव्य-प्रणाली को अपने से अलग नहीं रहने दिया। फिर चाहे वह पंडितों की हो, चाहे ग्रामीणों की; सूफ़ियों की हो, चाहे वैष्णवों की; कवियों की हो, चाहे भाटों की। लिया, सबको लिया और बड़े ढव से लिया। तुलसीदास का यह क्षेत्र भी उतना ही व्यापक, विस्तृत और गंभीर है जितना वस्तु, भाव तथा विचार का।

तुलसी की प्रकृति को देखते हुए उनकी प्रकृति-दृष्टि के विपय में भी थोड़ा कह लेना चाहिये। तुलसी ने प्रकृति को देखा और अपनी आँख से ही देखा है। किन्तु देखा है उसे राम के नाते ही। राम से अलग उनकी दृष्टि कहीं पड़ती नहीं, जमती नहीं, रमती नहीं। जहाँ कहीं पड़ती है राम ही को जोहती है। इसका

अर्थ यह हुआ कि तुलसीदास में प्रकृति की वह छटा नहीं जो अपने आप में पूर्ण और कवि-हृदय का आलंबन होती है। तो भी उसकी जो छाया तुलसी के 'मानस' में पड़ी है वह ऐसी छविमयी और मूर्तिमयी है कि उसकी उपेक्षा हो नहीं सकती। वह बुलाती है, रमाती है और दिखाती है अपने आने का दृश्य भी है भी वह भूमि ही, भूमा नहीं; भूमिका ही। हाँ, उसी भूमिका में विभु का उदय और मंगल का विधान है। और वही माया-पुरुष की लीला-भूमि बनती है, जिसके संयोग में वह खिलती और वियोग में झुलस जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने प्रभु के जगमय रूप को भी बड़े चाव से देखा है। 'सिया राम मय सब जग जानी' की भावना के साथ ही राम के विश्वरूप का साक्षात्कार कीजिये और मन्दोदरी की इस विनती पर विचार कीजिये —

कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ उर धरहू॥
बिस्वरूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वासु
लोक कलपना वेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥
पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला॥
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरु दिवसु निमेष अपारा॥
श्रवन दिसा दस वेद बखानी। मरुत स्वास निगम निज-बानी॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥
रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥
उदर उदधि अध गो जातना। जगमय प्रभु की बहु कलपना॥
अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान॥

—लंका, १५

उधर स्वयं इसी राम का कहना है—

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥
निज सिद्धांत सुनावौं तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥
मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सबतें अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुति धारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुँ तें अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचहु प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥
सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति अस सावधान सुनु काग॥
एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजहिं मोहि मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥

—उत्तर, ८६-८७

पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि तुलसीदास का मुख्य उद्देश्य है राम-चरित के द्वारा विविध रूप में भक्ति का निरूपण करना ही। इस निरूपण के निमित्त तुलसीदास ने जो

चार 'सुठि सुंदर संवाद वर विरचे बुद्धि बिचारि' की योजना की है उसका ध्येय रहा है 'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।' किन्तु इतने से ही तुलसी को सन्तोष कहाँ? उन्होंने तो प्रायः 'मानस' के सभी प्रमुख पात्रों से यही कार्य लिया है और सभी लोगों ने जैसे-तैसे राम का गुणगान और उनके परम रूप का बखान किया है। रामचरितमानस में बहुत सी स्तुतियाँ की गई हैं और की गई हैं नाना प्रकार से, नाना कोटि के जीवों के द्वारा। इनमें भी सबसे महत्त्व की स्तुति है वन्दी वेषधारी वेद की। उसके पद-पद से तुलसी का अभिमत टपकता है और तुलसी के अध्यात्म में अवगाहन के लिये यह पर्याप्त है। इसमें संसार-विटप भी है और ब्रह्म भी, किन्तु प्रतिष्ठा है सगुण रूप ही की और अन्तिम कामना है चरण अनुराग की ही—उस 'चरण-अनुराग' की, जो दुष्टों के दलन और साधुओं के परित्राण के निमित्त वन में इधर-उधर फिरता है और नाना प्रकार के कष्ट उठाता हुआ जिससे सम्पर्क में आया उसको सद्गति देता रहा। वेद क्या यह तुलसीदास की ही मर्मवाणी है—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुज बल हने॥
अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनत पाल दयाल प्रभु संयुक्त सक्ति नमामहे॥
तव बिषयमाया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुनन्हि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥
जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे॥
जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुन्द राम रमेस नित्य भजामहे॥
अव्यक्त मूल मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
पट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकार देव यह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥
—उत्तर, १३

वेदों का जाना था कि शंभु भगवान का आना हुआ और अन्त में उन्होंने श्रीरंग से यह वरदान माँगा —

बार बार बर माँगौं, हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति, सदा सतसंग॥
—उत्तर, १४

तुलसीदास भक्ति और सत्संग इन दोनों को बहुत महत्त्व देते हैं। भक्तियोग के सम्बन्ध में उनका मत वही है जो उनके राम का। भक्ति का स्वरूप क्या है, उसका साध्य और उसके साधन क्या हैं इनका विचार भी तुलसीदास ने अपने 'मानस' में भली भाँति कर दिया है। ईश्वर और जीव में क्या भेद है इसके जाने बिना भक्ति हो नहीं पाती। जानने का कार्य ज्ञान से होता है और ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है। अतएव गुरु की प्रतिष्ठा भी अनिवार्य है। संक्षेप में तुलसीदास का अध्यात्म

यह है। उनके राम का यह कहना है —

"थोरेहि मेहुँ सबं कहहुँ बुझाई। सुनहु तात मन मति चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। त्रिन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥
माया ईस न आपु कहुँ जान कहिय सो जीव।
बंध मोक्षप्रद सर्ब पर माया प्रेरक सीव॥

—अरण्य, ६

यह तो हुई तत्त्व-दृष्टि। इसमें जीव, माया, विद्या, अविद्या आदि का विचार हुआ। अब भक्ति का प्रसंग आता है और राम बताते हैं कि भक्ति का स्वरूप क्या है, और वह किस प्रकार इष्ट होती है —

"धर्म तें बिरति जोग से ग्याना। ग्यान मोक्षप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥
भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
येहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥
बचन करम मन मोरि गति, भजनु करहिं निहकाम।
तिन्हके हृदय कमल महुँ, करौं सदा बिश्राम॥"

—अरण्य, १०

कहने को 'धर्म तें बिरति, का उल्लेख तो हो गया पर इसका स्पष्ट रूप कोई सामने नहीं आया। प्रसंग चल ही रहा था कि सूपनखा आ गई। गई तो विरही राम को देख कर नारद आ पड़े और उन्होंने राम से जिज्ञासा की —

तब विवाह मैं चाहौं कीन्हा। प्रभु केहि कारन करे न दीन्हा॥

राम ने जो समाधान किया वह विरति की मूल जड़ी है। कहते हैं —

सुनु मुनि तोहिं कहौं सह रोसा। भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा॥
करौं सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तह राखै जननी अरगाई॥
प्रौढ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिलि बाता॥
मोरे प्रौढ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहुँ काम क्रोध रिपु आही॥
येह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायहु ग्यान भगति नहिं तजहीं॥
काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥
सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीपम सोखै सब नारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इनहिं हरप प्रद बरपा एका॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहिं दहै सुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥

बुधि बलु सील सत्य सब मीना । बनसी सम त्रिय कहहिं प्रवीना ॥
अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि ।
ता ते कीन्ह निवारन मुनि, मैं येह जिय जानि ॥

—अरण्य, ३८

'सहरोसा' कितना सटीक उतरा है । तुलसीदास को आज इस विरति के कारण बहुतों का रोष सहना पड़ता है । परन्तु कीजियेगा क्या ? प्रसंग ही ऐसा है । राम नारद को सचेत करते हैं कि यदि आप फिर रोष में आकर कोई शाप दे देंगे, तो इसकी कोई चिन्ता नहीं । पर बात आपसे पक्की ही कही जायगी । नारद अब तो काम-वासना से मुक्त हो चुके थे । जैसे यह उनके ही मन की बात कही गई थी । फलतः 'मुनि तन पुलक नयन भरि आये ।'

विरति से तुलसी दास का तात्पर्य कभी कोरे वैराग्य से नहीं है । भक्त से राम क्या चाहते हैं और कैसा भक्त उन्हें परम प्रिय होता है इसको भी उन्होंने खोल कर कह दिया है । स्वयं राम विभीषण से कहते हैं —

सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ । जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही । आवै सभय सरन तकि मोही ॥
तजि मद मोह कपट छल नाना । करौं सद्य तेहि साधु समाना ॥
जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥
सबकै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसै धन जैसे ॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे । धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥
सगुन उपासक पर हित निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्रान समान मम, जिन्हके द्विज पद प्रेम ॥

—सुन्दर, ४८

अन्त में भरत ने राम से सन्तों की महिमा जानने की इच्छा की है और राम ने अपने श्रीमुख से सन्त और असन्त के भेद को विलग कर उनके सामने रख दिया है। संक्षेप में —

निंदा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद-कंज।
ते सज्जन मम प्रान-प्रिय, गुन मंदिर सुख कुंज॥

—उत्तर, ३८

एवं —

पर द्रोही पर-दार-रत, पर-धन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पाप मय, देह धरे मनुजाद॥

—वही, ३९

अन्त में सन्त और असन्त का भेद दिखा कर सार यह बताते हैं कि—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
काल रूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहि मोहि सुर नर मुनि नायक॥
संत असंतन्ह के गुन भाषे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥

सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहि, देखिअ सो अबिबेक॥

—वही, ४१

कहने को सन्त और असन्त का भेद फरिया दिया गया परन्तु वास्तव में आदेश यह दिया गया कि इस द्वन्द्व के चक्कर में न पड़ो। गुण की बात तो यह है कि सभी को माया का प्रपंच समझो और अपनी दृष्टि को राममय बना दो। भेद-बुद्धि

से परे हो जाओ और अभेद में परमात्मा का साक्षात्कार करो। कारण कि—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

सारांश यह कि—

नर तन भव वारिधि कहुँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सद्गुर दृढ नावा। दुर्लभ साजु सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आत्माहन गति जाइ॥
जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम वचन हृदय दृढ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भगति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
भगति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन बिप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करै द्विज सेवा॥
औरो एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि॥

—उत्तर, ४४-४५

तुलसी ने शंकर की भक्ति को राम-भक्ति की कसौटी ठहरा कर जो पुण्य-कार्य किया है उसकी भूरि भूरि प्रशंसा होती है। उसको दोहराने की आवश्यकता नहीं। तुलसी ने सबको समेट कर राममय कर दिया है और राम को फैला कर सब में रमा दिया है, सर्वमय कर दिया है। इसी को दृढ करने की दृष्टि से शंकर के मुँह से कहलाया गया है—

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध॥

—उत्तर, ११२

जिस भक्ति का इतना बखान हुआ और जिसके निरूपण में इतना श्रम किया गया उसकी स्थिति क्या है ? क्या तुलसीदास ने उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रहने दिया है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। तुलसी का अधिकार-भेद कहाँ नहीं है ? सबको एक ही ढंग की भक्ति नहीं मिलती। किसी को भेद-भक्ति मिलती है तो किसी को प्रेम-भक्ति, किसी को अविरल भक्ति मिलती है तो किसी को अनपायनी। मिलती ही नहीं, माँगी भी जाती है अलग अलग ही, जिसका अर्थ है कि भक्त अपनी भावना, वासना और संस्कृति के अनुरूप भक्ति की याचना करता और राम के उस रूप को अपना इष्ट बनाता है जो उसके मन में ही नहीं रोम रोम में रमा होता है। शिव ने 'अनपायनी' भक्ति की याचना की यह तो पहले ही आ चुका है। सनकादि भी 'अनपायनी' भक्ति के ही भूखे हैं, यह उनकी इस प्रार्थना से प्रकट होता है—

परमानंद कृपायतन, मन पर पूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहिं श्रीराम॥

—उत्तर, ३४

यहाँ 'अनपायनी' 'प्रेम भगति' का विशेषण है, तो इसका अर्थ हुआ कि प्रेम भक्ति ही अनपायनी है। यह भक्ति 'नारि-तप-पुंज' को भी दी जाती है, जो प्रभु की आज्ञा पाकर बदरीवन को चली जाती है। तुलसीदास का कहना है—

बदरी बन कहुँ सो गई, प्रभु आग्या धरि सीस।
उर धरि राम चरन जुग, जे बंदत अज ईस॥

—किष्किन्धा, २५

बदरीवन जाने का अर्थ यही हुआ कि उसको मुक्ति नहीं मिली। तुलसीदास ने भक्ति के सामने मुक्ति को तुच्छ ठहराया भी है।—

प्रेम-भक्ति का प्राणी किस रूप में रहता है इसको सुतीक्ष्ण के रूप में देखना चाहिये। प्रेमातिरेक के कारण उनकी दशा यह हो जाती है कि —

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं बूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥

इतना ही नहीं अपितु —

कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

उनका यह नृत्य प्रभु को इतना भाता है कि —

प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई।

तुलसीदास कहते हैं —

अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।

किंतु यह नृत्य रुका और —

मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

इसके उपरान्त—

तब रघुनाथ निकट चलि आये। देखि दसा निज जन मन भाये॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥
भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिवर जैसे॥
आगे देखि राम तनु स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिवर बड़ भागी॥
भुज बिसाल गहि लिए उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥
मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक तरुहि जनु भेंट तमाला॥
राम बदनु बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा॥
तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहि बार।
निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा बिबिध प्रकार॥

—अरण्य, ४

आव-भाव और आदर-सत्कार के अनन्तर राम जो वर माँगने को कहते हैं तो मुनि वर माँगना नहीं चाहता; क्योंकि उसने

कभी किसी वर की कामना की ही नहीं। जिसने राम को चेता लिया उसे किसी वर की आवश्यकता ही क्या? अतएव उसने राम-रुचि पर ही अपने को छोड़ दिया। राम ने —

अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल गुन ज्ञान निधाना।

का वर दिया तो यह खुल पड़ा और बड़े भाव से कहा —

प्रभु जो दीन सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहिं जो भावा॥
अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव, बसहु सदा येह काम।

—वही, ४

'मानस' के पात्रों में निषाद और सुतीक्ष्ण ये ही ढीठ दिखाई देते हैं और राम को इनकी चतुराई पर रीझना और विहँसना पड़ता है।

सनकादि के प्रसंग में 'प्रेम भगति अनपायनी' का उल्लेख हुआ है और यहाँ 'अविरल प्रेम भगति' का। तो क्या तुलसीदास ने प्रेम-भक्ति को ही दो भागों में विभक्त किया है?

प्रेम भक्ति के प्रसंग में हमें वसिष्ठ का यह कथन कभी नहीं भूलना चाहिये कि —

प्रेम भगति जल बिनु, रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

—उत्तर, ४६

और साथ ही यह भी देख लेना चाहिये कि 'मानस' में जो 'एक तापस' का प्रसंग आया है वह सुतीक्ष्ण की दशा के मेल में है अथवा नहीं। हमारी दृष्टि में तो तुलसीदास भी इसी पंथ के पथिक हैं।

रह गई 'भेद भगति' सो उसके बारे में तुलसीदास का कहना है —

सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥
रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितै पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥

तातें उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गए सुरधामा॥

—लंका, ११२

यहीं भेद-भक्ति शरभंग के प्रसंग में भी आती है और वहाँ भी तुलसीदास लिखते हैं—

सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुन रूप श्रीराम॥

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा।
तातें मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

—अरण्य, २३

इस भेद-भक्ति को और भी हृदयंगम करना है तो कागभुसुंडि के इस कथन को लें—

हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥
तातें नास न होइ दास कर। भेद-भगति बाढ़ै बिहंग बर॥

—उत्तर, ७६

भेद-भक्ति से तुलसीदास का तात्पर्य क्या है और प्रेम-भक्ति से उसका सम्बन्ध क्या है तथा भक्ति के साथ तुलसीदास ने जो भेद, प्रेम, अविरल और अनपायनी का विशेषण लगाया है उसमें कुछ तथ्य है अथवा नहीं इसकी भी जाँच होनी चाहिये। तुलसीदास ने जिन व्यक्तियों के लिये अनपायनी भक्ति का प्रयोग किया है उनमें से कोई हरि-धाम, सुर-धाम वा बैकुंठ नहीं गया—न न शिव गये, न सनकादि गये, न हनूमान गये और न 'तप पुंज' नारी ही गई। अतएव इसकी स्थिति तो स्पष्ट है। किन्तु 'अविरल' का मर्म मिलना कुछ कठिन है। कारण कि इस भक्ति में कागभुसुंडि भी हैं, गीध भी है और हैं मुनि-जन भी। इनमें कागभुसुंडि तो नित्य राम-चरितमानस की कथा में लीन

रहते हैं और मुनि लोग यह वर माँगते हैं कि श्रीराम सीता और अनुज लक्ष्मण के साथ नित्य हमारे हृदय में निवास करें और कहते हैं—

अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥

—अरण्य, ७

अगस्त्य मुनि ने इसमें अपना जो पक्ष दिखाया है वह कागभुसुंडि के सर्वथा मेल में है। अतएव इसका उससे कोई विरोध नहीं। यदि इसमें कहीं अड़चन दिखाई देती है तो गीध के प्रसंग में ही। तुलसीदास कहते हैं—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥

—अरण्य, २६

इससे विदित होता है कि यह गीध की स्तुति विष्णु की स्तुति है और विष्णु भी राम के भक्त हैं और अविरल भक्ति की कामना करते हैं। इसके साथ ही इतना और जान लेना चाहिये कि इस भक्ति में दंभ को स्थान नहीं। यही कारण है कि गुरु ने एक वार शूद्र रूपी कागभुसुंडि को बुलाकर चेताया—

सिव सेवा कै फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥
रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पावर कै केतिक बाता॥
जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥
हर कहँ हरिसेवक गुर कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ॥
अधम जाति मैं बिद्या पाए। भएउ जथा अहि दूध पिआए॥

—उत्तर, १०६

कागभुसुंडि भी इसके फलस्वरूप राम के अविरल भक्त हो गये और परमार्थ के साथ ही व्यवहार में भी लीन रहे और

सबके कल्याण के लिये रामचरितमानस की कथा भी कहते रहे। अस्तु, कहा जा सकता है कि अविरल भक्ति में लोक-संग्रह और समन्वय की भावना विहित है। रही भेद-भक्ति, सो इसके सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त है कि बिना भेद के भक्ति होती भी नहीं। अतएव यह भेद-बुद्धि तो सभी भक्तियों में बनी रहेगी और जिसमें भेद-भक्ति होगी उसमें आलंबन के प्रति प्रीति भी होगी ही। किन्तु वह प्रेम-दशा तक पहुँच कर सब को सुतीक्ष्ण बना दे यह अनिवार्य नहीं। भेद-भक्ति के साधक स्वर्ग और वैकुंठ को प्राप्त होते हैं; किन्तु प्रेम-भक्ति के साधक तो बस प्रेम ही में निमग्न रहते हैं और सदा आनन्द-रस में ही निमज्जन करते हैं। यही कारण है कि तुलसीदास ने राम के रूप की बहुत चर्चा की है और उनके सौन्दर्य को ऐसा दिखाया है कि देखते ही लोग मुग्ध हो जाते हैं। जिस किसी ने राम को देखा राम में उसका अनुराग हो गया और राम का वह भक्त बना।

तुलसीदास ने राम को जहाँ कहीं लिया है प्रसाधन के साथ लिया है और उनकी शोभा का उसे भी अंग बनाया है। यह प्रसाधन देश, काल और अवसर के अनुरूप होता रहा है। तुलसीदास ने इसमें कहीं पुनरुक्ति नहीं की है और की भी है तो सूक्ष्म भेद को निभाते हुए ही। सभी प्रसंगों को लेकर चलना ठीक नहीं। यहाँ हमारा ध्येय है यह दिखाना कि राम के प्रसाधन, वेष-भूषा अथवा सज्जा से हमें तुलसी की रुचि और उस समय की परिपाटी का भी बहुत कुछ पता हो जाता है। अतएव पहले दूलह राम की शोभा देखिये —

स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥
जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बाल रबि दामिनि जोती॥
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥

पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चितु लेई॥
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत उरु भूषन राजे॥
पिअर उपरना काखा सोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती॥
नयन कमल कल कुंडल काना। बदनु सकल सौंदर्ज निधाना॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलक रुचिरता निवासा॥
सोहत मौरु मनोहर माथे। मंगलमय मुकुता मनि गाथे॥

—बाल, ३१२

और फिर राजा राम की अतुलित छवि। इसमें आपको जैसा व्यापक, पुष्ट, अलंकृत और विस्तृत नख-शिख का मनोरम रूप दिखाई देगा वैसा अन्यत्र नहीं। लोचन-लाभ लेना है तो आँख खोल छवि-पान कीजिए—

देखो रघुपति-छवि अतुलित अति।
जनु तिलोक सुखमा सकेलि बिधि राखी रुचिर अंग अंगनि प्रति॥
पदुमराग रुचि मृदु पदतल, धुज अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति।
रही आनि चहुँ बिधि भगतनि की जनु अनुराग भरी अंतरगति॥
सकल सुचिह्न सुजन सुखदायक ऊरधरेख बिसेष बिराजति।
मनहुँ भानु-मंडलहि सँवारत धर्यो सूत बिधि-सुत बिचित्र मति॥
सुभग अँगुष्ठ अंगुली अबिरल, कछुक अरुन नख-ज्योति जगमगति।
चरन पीठ उन्नत नत-पालक, गूढ़ गुलुफ, जंघा कदलीजति॥
काम-तून-तल सरिस जानु जुग, उरु करि-कर करभहि बिलखावति।
रसना रचित रचन चामीकर, पीत बसन कटि कसे सरसावति॥
नाभी सर त्रबली निसेनिका, रोमराजि सैवल छवि पावति।
उर मुकुतामनि-माल मनोहर मनहुँ हंस-अवली उड़ि आवति॥
हृदय पदिक भृगु-चरन-चिह्न-वर, बाहु बिसाल जानु लगि पहुँचति॥
कल केयूर पूर-कंचन-मनि, पहुँची मंजु कंज-कर सोहति॥
सुजव, सुरेख, सुनख अंगुलि जुत, सुंदर पानि मुद्रिका राजति।
अंगुलित्रान कमान बान छवि सुरनि सुखद असुरनि-उर सालति॥

स्याम सरीर सुचंदन-चर्चित, पीत दुकूल अधिक छवि भ्राजति।
नील जलद पर निरखि चंद्रिका दुरनि त्यागि दामिनि जनु दमकति॥
जज्ञोपवीत पुनीत बिराजत गूढ़ जत्रु बनि पीन अंस तति।
सुगढ़ पुष्ट उन्नत कृकाटिका कंबु कंठ सोभा मन मानति॥
सरद-समय-सरसीरुह-निंदक मुख-सुखमा कछु कहत न बानति।
निरखत ही नयननि निरुपम सुख, रबिसुत, मदन, सोम-दुति निदरति॥
अरुन अधर द्विजपाँति अनूपम ललित हँसनि जनु मन आकरषति॥
बिद्रुम-रचित बिमान मध्य जनु सुर मंडली सुमन-चय बरषति॥
मंजुल चिबुक मनोरम हनुथल, कल कपोल नासा मन मोहति॥
पंकज-मान-बिमोचन लोचन चितवनि चारु अमृत-जल सींचति॥
केस सुदेस गँभीर बचन बर, स्रुति कुंडल-डोलनि जिय जागति॥
लखि नव नील पयोद रवित सुनि रुचिर मोर जोरी जनु नाचति॥
भौंहैं बंक मयंक-अंक रुचि कुंकुम रेख भाल भलि भ्राजति॥
सिरसि हेम-हीरक-मानिक मय मुकुट-प्रभा सब भुवन प्रकासति॥
बरनत रूप पार नहिं पावत निगम सेष सुक संकर भारति॥
तुलसिदास केहि बिधि बखानि कहै यह मन बचन अगोचर मूरति॥

—गीतावली, उत्तर, १७

जानकारी के लिये सुगम होगा जो यहीं यह भी देख लिया जाय कि विवाह-मंडप कैसा बना है और राम की राजधानी है कैसी। इससे शिल्प का बोध होगा और रुचि का ज्ञान भी। उधर दूत अवध पुर भेज दिये गये तो इधर राजा जनक ने —

बहुरि महाजन सकल बोलाये। आइ सबन्हि सादर सिर नाए॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगरु सँवारहु चारिहु पासा॥
हरषि चले निज निज गृह आये। पुनि परिचारक बोलि पठाए॥
रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिर धरि बचन चले सचुपाई॥
पठये बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा॥

हरित मनिन्ह के पत्र फल, पद्मराग के फूल।
रचना देखि विचित्र अति, मनु बिरंचि कर भूल॥

बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे॥
कनक कलित अहि बेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सोहाई॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए। बिच बिच मुकुता दाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥
किए भृंग बहुरंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा॥
सुर प्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ी॥
चौके भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर मनि मय सहज सोहाईं॥

सौरभ पल्लव सुभग सुठि, किए नील मनि कोरि।
हेम बौर मरकत घवरि, लसत पाटमय डोरि॥

रचे रुचिर बर बंदनिवारे। मनहुँ मनोभव फँद सँवारे॥
मंगल कलस अनेक बनाए। ध्वज पताक पट चँवर सोहाए॥
दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥

—बाल, २६२—६४

मणियों के वर्ण तथा कोर-क्रिया पर ध्यान दीजिये और इस शिल्प-कला के साथ ही अवधपुरी की भी रुचिरता को निहार लीजिये —

जात रूप मनि रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥
नव ग्रह निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मनु नाचा॥
धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहुँ रबि ससि दुति निंदत॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं॥

मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी बिद्रुम रची।
मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥

सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥
चारु चित्रसाला गृह, गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम चरित जे निरख मुनि, ते मन लेहिं चोराइ॥

सुमन बाटिका सबहिं लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंत की नाईं॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिबिध सदा बह सुंदर॥
नाना खग बालकन्हि जिआए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए॥
मोर हंस सारस पारावत। भवनन्हि पर सोभा अति पावत॥
जहँ तहँ देखहिं निज परिछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं॥
सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक॥
राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥

—उत्तर, २७-२८

वर्णन तो और भी आगे तक चला गया है, किन्तु यहाँ उसकी विविधता पर विचार करने का विचार नहीं है। रामचरित-मानस में अनेक अवसरों पर ऐसे वर्णन हुए हैं। तुलना की दृष्टि से उनका अध्ययन लाभप्रद होगा। तोभी उसकी उपयोगिता यहाँ अधिक नहीं है। अतएव उसे यहीं छोड़ 'बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं' को दृष्टि में रख कर कुछ प्रकृति के विषय में भी कह दिया जाता है। परन्तु ऐसा करने के पहले हमें यह दिखा देना है कि तुलसीदास ने किसी के स्वभाव को कैसा निभाया है। मृगया का दृश्य देखिये —

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू॥
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहु क्रोध बस उगिलत नाहीं॥
कोल कराल दसन छबि छाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई॥
घुरघुरात हय आरौ पाएँ। चकित बिलोकत कान उठाएँ॥

नील महीधर सिखर सम, देखि बिसाल बराहु।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप, हाँकि न होइ निबाहु॥
आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुत गति भाजी॥
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना। महि मिलि गयउ बिलोकत बाना॥
तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा। रिस बस भूप चलेउ सँग लागा॥
गएउ दूरि घन गहन बराहू। जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपि न मृग मग तजै नरेसू॥
कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरि गुहा गभीरा॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महा बन परेउ भुलाई॥
खेद खिन्न छुद्धित तृषित, राजा बाजि समेत।
खोजत ब्याकुल सरित सर, जल बिनु भयउ अचेत॥

—बाल, १६१-६२

तुलसीदास ने प्रकृति का वर्णन प्रायः अलंकार और उद्दीपन के रूप में ही किया है, आलम्बन के रूप में उन्होंने उसे जहाँ-तहाँ ही लिया है। प्रकृति शिक्षक के रूप में ही उनके सामने अधिक आई है। इसका प्रमुख कारण है, उनका संकल्प और साध्य ही, न कि प्रकृति की रमणीयता में उनकी अरुचि। 'मानस' की अपेक्षा 'गीतावली' में प्रकृति पर तुलसी की अधिक दृष्टि रही है और उसका वर्णन भी फलतः अच्छा ही हुआ है। तुलसी के प्रकृति-वर्णन को संक्षेप में एकत्र देखना हो तो 'पंपासर' का वर्णन देखिए। उस पर उनकी दृष्टि पड़ती है तो उनके हृदय में उसकी जो छाया प्रतिफलित होती है वह है—

संत हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी॥
जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा॥
पुरइन सघन ओट जल, बेगि न पाइअ मर्म।
मायां छन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म।

सुखी मीन सब एक रस, अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्म सीलन्ह के दिन, सुख संजुत जाहिं॥
बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥
बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
चक्रबाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुन्दर खग गन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए। चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए॥
चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस पलास रसाला॥
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरीक पटली कर गाना॥
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥
फल भर नम्र बिटप सब, रहे भूमि नियराय।
पर उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसंपति पाइ॥

—अरण्य, ३३१४

और यदि वृक्षों की शोभा देखनी हो तो चित्रकूट में पहुँच जाइये और देखिये यह कि—

नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥
जिन्ह तरुबरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मनु मोहा॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला॥
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी। बिरची बिधि सँकेलि सुखमा सी॥

—अयोध्या, २३७

वट-वृक्ष का जैसा सजीव, रमणीय और सटीक दर्शन आपको यहाँ हुआ वैसा अन्यत्र क्या कहीं मिलेगा? तुलसीदास ने सभी प्रकृति की दृष्टि से चित्रकूट ही को लिया है और उसका वर्णन भी बड़े ही ढंग से किया है। सो तुलसीदास ने चित्रकूट को प्रायः संभोग की दृष्टि से देखा है। कारण कि यह राम और सीता की विहार-भूमि है। तुलसीदास ने स्त्री के नख-शिख को बहुत बचा-

कर लिया है। 'मानस' में रूपकातिशयोक्ति के रूप में प्रकृति में उसको व्यक्त किया है। कारण कि वहाँ मर्यादा का बड़ा कठोर बन्धन है। उनकी चित्तवृत्ति 'विनय-पत्रिका' में सर्वथा स्वच्छन्द रही है और अपने मनमाने रूप से अपने मन की राम से मनवाने में निमग्न रही है। अतः उसके एक पद में उन्होंने वसन्त ऋतु में ही नारी का साक्षात्कार किया है और 'उमाकांत' से प्रार्थना की है कि कृपा कर उसके प्रपंच से भक्त की रक्षा करें, जिससे उसके हृदय में राम का सुखद निवास हो। अच्छा होगा, इसे भी देख लें —

देखो देखो बन बन्यो आज उमाकंत। मनो देखन तुमहिं आई ऋतु बसंत।
जनु तनु दुति चंपक-कुसुम माल। बर बसन नील नूतन तमाल॥
कल कदलि जंघ, पद कमल लाल। सूचति कटि केहरि, गति मराल॥
भूषन प्रसून बहु बिबिध रंग। नूपुर किंकिनि कलरव बिहंग॥
कर नवल-बकुल पल्लव रसाल। श्रीफल कुच, कंचुकि लता जाल॥
आनन सरोज, कच मधुप पुंज। लोचन बिसाल नव नीलकंज॥
पिक-बचन चरित बर बरहि कीर। सित सुमन हास लीला समीर॥
कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचै पंचबान॥
करि कृपा हरिय भ्रमफंद काम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम॥
—विनय, १४

गोस्वामी तुलसीदास ने ऋतुराज में चाँचर भी मचा ली है। ऋतुराज का आगमन देख कर लक्ष्मण राम से वन की होली का वर्णन करते हुए कहते हैं —

चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुराग।
सखा सहित जनु रतिपति आयउ, खेलन फाग॥
झिल्लि झाँझ, झरना डफ, नव मृदंग निसान।
भेरि उपंग भृंग रव, ताल कीर कलगान॥

हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर।
गावत मनहुँ नारिनर मुदित नगर चहुँ ओर॥
चित्र बिचित्र बिबिध मृग डोलत डोंगर डाँग।
जनु पुर-बीथिन बिहरत छैल सँवारे स्वाँग॥
नचहिं मोर, पिक गावहिं सुर बर राग बँधान।
निलज तरुन तरुनी जनु खेलहिं समय समान॥
भरि भरि सुंड करिनि करि जहँ तहँ डारहिं बारि।
भरत परसपर पिचकनि मनहुँ मुदित नर नारि॥
पीठि चढ़ाइ सिसुन्ह कपि कूदत डारहिं डार।
जनु मुँह लाइ गेरु, मसि भए खरनि असवार॥
लिए पराग सुमन-रस डोलत मलय समीर।
मनहुँ अरगजा छिरकत, भरत गुलाल अबीर॥
काम कौतुकी यहि बिधि प्रभु-हित कौतुक कीन्ह।
रीझि राम रतिनाथहि जग बिजयी वर दीन्ह॥
दुखवहु मोरे दास जनि, मानेहु मोरि रजाइ।
भलेहि नाथ, माथे धरि आयसु चलेउ बजाइ॥
मुदित किरात किरातिनि रघुबर-रूप निहारि।
प्रभुगुन गावत नाचत चले जोहारि जोहारि॥
देहिं असीस प्रसंसहिं मुनि, सुर बरषहिं फूल।
गवने भवन राखि उर मूरति मंगल मूल॥
चित्रकूट कानन छबि को कवि बरनै पार।
जहँ सिय लखन सहित नित रघुबर करहिं बिहार॥
तुलसिदास चाँचरि मिस कहे राम-गुन-ग्राम।
गावहिं सुनहिं नारि नर पावहिं सब अभिराम॥

—गीतावली, अयोध्या, ४७

हाँ, तो होली का रंग भी तभी खरा उतरता है जब 'हिंडोल'

का आनंद भी पूरा मिल चुका हो । इसी से तो सखी सखी से कहती है —

आली री, राघौ के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए।
फटिक-भीति सुचारु चहुँ दिसि, मंजु मनि मय पौरि ॥
गच काँच लखि मन नाच सिखि जनु, पाँचसर सु फँसौरि।
तोरन बितान पताक चामर धुज सुमन फल घौरि ॥
प्रतिछाँह-छबि कबि साखि दै प्रति सौं कहै गुरु हौं रि।
मदन जय के खंभ से रचे खंभ सरल बिसाल ॥
पाटीर-पाटि बिचित्र भँवरा बलित बेलनि बाल।
डाँडो कनक कुंकुम-तिलक रेखैं सी मनसिज-भाल ॥
पटुली पदिक रवि-हृदय जनु कलधौत-कोमल-माल।
ठनये सघन घनघोर, मृदु झरि सुखद सावन लाग ॥
बग पाँति सुरधनु, दमक दामिनि, हरित भूमि बिभाग।
दादुर मुदित, भरे सरित सर, महि उमँग जनु अनुराग ॥
पिक मोर मधुप चकोर चातक सोर उपबन बाग।
सो समौ देखि सुहावनो नवसत सँवारि सँवारि ॥
गुन-रूप-जोबन सींव सुंदरि चलीं झुंडनि झारि।
हिंडोल-साज विलोकि सब अंचल पसारि पसारि ॥
लागीं असीसन राम-सीतहि सुख-समाजु निहारि।
झूलहिं झुलावहिं ओसरिन्ह गावैं सुहो गौड़-मलार ॥
मंजीर—नूपुर—बलय—धुनि जनु काम-करतल तार।
अति सुचत स्रमकन मुखनि बिथुरे चिकुर बिलुलित हार ॥
तम तडित उडुगन अरुन बिधु जनु करत ब्योम बिहार।
हिय हरषि बरषि प्रसून निरखति बिबुध-तिय तृन तूरि ॥
आनन्द जल लोचन, मुदित मन, पुलक तनु भरिपूरि।
सब कहहिं अबिचल राज नित, कल्यान मंगल भूरि ॥
चिरजिवौ जानकिनाथ जग तुलसी सजीवनि मूरि।

—गीतावली, उत्तर, १८

और इतने से सन्तोष न हुआ तो—

झुंड झुंड झूलन चलीं गज गामिनि बर नारि।
कुसुंभि चीर तनु सोहहिं भूषन बिबिध सँवारि॥
पिक बयनी मृग लोचनी सारद ससि सम तुंड।
राम-सुजस सब गावहिं सुसुर सुसारँग गुंड॥
सारंग गुंड मलार सोरठ सुहव सुघरनि बाजहीं।
बहु भाँति तान-तरंग सुनि गंधरब किन्नर लाजहीं॥
अति मचत छूटत, कुटिल कच छबि अधिक सुन्दर पावहीं।
पट उड़त, भूषन खसत, हँसि हँसि अपर सखी झुलावहीं॥

—गीतावली, उत्तर, १९-४

तुलसीदास ने विविध-विषयों पर विविध रूपों में जो कुछ लिखा है उसका दिग्दर्शन कराने की दृष्टि से इतना और भी निवेदन का देना आवश्यक प्रतीत होता है कि उन्होंने तिथियों को लेकर भी रचना की है। अधिक नहीं, बस एक ही। तुलसीदास ने 'भाव कुभाव अनख आलस हूँ' को राम-भजन में ही नहीं, उसके प्रकार में भी ठीक समझा है और सभी प्रकार की रुचियों के लिये कहीं न कहीं, किसी न किसी रचना में, कुछ न कुछ उसका प्रबंध भी अवश्य कर दिया है। तुलसी में जो गणित है उसको इसी का परिणाम समझना चाहिये। उपमान के रूप में ही नहीं स्वयं 'दोहावली' के कुछ दोहों में भी उनकी ज्योतिष की पूरी विधि दिखाई देती है। दोहावली के जो पाँच (४५६–६०) दोहे लगातार ज्योतिषियों के काम के आते हैं उनको तुलसी-रचित मानने में कुछ हिचक होती है। कारण कि उनमें न तो राम का नाम है और न तुलसी की छाप। ये हैं भी उनकी प्रकृति के प्रतिकूल ही। हाँ, तुलसी का यह दोहा अवश्य तुलसी की छाप के साथ है और है सीतापति की भगति के साथ भी। देखिये—

सुधा साधु सुरतरु सुमन, सुफल सुहावनि बात।
तुलसी सीतापति भगति, सगुन सुमंगल सात॥ ४६१

इसमें तुलसीदास ने सप्त सकार को लिया है। ठीक वैसे ही जैसे लोग पंच वकार या षड् भकार को लेते हैं। भगित में 'स' आता नहीं था। राम में भी वह नहीं आता है। पर सीता में तो वह है ही। निदान 'सीतापति भगति' में सातवाँ सकार भी प्राप्त हो गया और तुलसी का 'सगुन' पूरा हुआ।

इसी प्रकार का एक पद भी प्रस्तुत किया जाता है जो तुलसीदास की इस व्यापक दृष्टि का द्योतक है—

श्रीहरि गुरु पद कमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान॥
परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम मिलन अति दूर।
जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरि पूरि॥
दुइज द्वैत-मति छाँड़ि चरहिं महि-मंडल धीर।
बिगत मोह माया मद हृदय बसत रघुबीर॥
तीज त्रिगुन-पर परम पुरुष श्रीरमन मुकुंद।
गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानंद॥
चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित अहंकार।
बिमल बिचार परमपद निज सुख सहज उदार॥
पाँचइ पाँच परस, रस, शब्द, गंध अरु रूप।
इन्ह कर कहा न कीजिए बहुरि परब भवकूप॥
छठि षड्वर्ग करिय जय जनकसुता पति लागि।
रघुपति-कृपा-बारि बिनु नहिं बुताइ लोभागि॥
सातैं सप्त धातु-निर्मित तनु करिय बिचार।
तेहि तनु केर एक फल, कीजै पर-उपकार॥
आठइँ आठ-प्रकृति-पर निर्बिकार श्रीराम।
केहि प्रकार पाइय हरि हृदय बसहिं बहु काम॥
नवमी नव द्वार पुर बसि जेहि न आपु भल कीन्ह।
ते नर जोनि अनेक भ्रमत दारुन दुख लीन्ह॥

दसहुँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि।
साधन वृथा होइ सब मिलिहिं न सारँगपानि॥
एकादसी एक मन बस कैसहु करि जाइ।
सोइ व्रत कर फल पावै आवागमन नसाइ॥
द्वादसि दान देहु अस अभय होइ त्रैलोक।
परहित-निरत सो पारन बहुरि न ब्यापत सोक॥
तेरसि तीन अवस्था तजहु भजहु भगवंत।
मन-क्रम-वचन-अगोचर, ब्यापक, ब्याप्य, अनंत॥
चौदसि चौदह भुवन अचर चर रूप गुपाल।
भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जगजाल॥
पूनों प्रेम भगति-रस हरिरस जानहिं दास।
सम सीतल गत-मान ज्ञानरत बिषय उदास॥
त्रिबिध सूल होलिय जरै, खेलिय अस फागु।
जो जिय चाहसि परम सुख तो यहि मारग लागु॥
श्रुति-पुरान-बुध-संमत चाँचरि चरित मुरारि।
करि बिचार भव तरिय, परिय न कबहुँ जमधारि॥
संसय-समन दमन-दुख सुखनिधान हरि एक।
साधु कृपा बिनु मिलहिं न करिय उपाय अनेक॥
भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन॥

—विनय, २०३

तुलसीदास ने साधना की जो तिथि-चर्या और फाग खेलने का जो विधान किया है वह तो है ही, साथ ही 'भव सागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन' का 'शुद्ध' भी विचारणीय है। तुलसीदास ने इस 'शुद्धता' का सदा बहुत विचार रखा है। यहाँ तक कि वे 'कहार जैसे' अश्लील-पटु व्यक्ति के लिये भी एक पद रच देते हैं और उसमें उपदेश भी कुछ कबीरी ढंग से ही देते हैं।

लीजिये तुलसी का 'कहरवा' है—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तो भव बेगारि महँ परिहै छूटत अति कठिनाई रे॥
बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे॥
बिषम कहार मार-मदमाते, चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे॥
काँट कुराय-लपेटन लोटन ठाँवहिं ठाँउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे॥
मारग अगम संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भवत्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे॥

विनय, १८९

आशा है इतना निदर्शन तुलसी की व्यापक वृत्ति के दिग्दर्शन में पर्याप्त होगा। विषय को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं। तो भी संक्षेप में यहाँ इतना और कह दिया जाता है कि तुलसी ने सभी प्रकार से सभी के जीवन को राममय बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। और इसी से उनकी रचना का फैलाव बहुत दूर तक, कहीं व्यास और कहीं समास-रूप से हुआ है। हाँ, यदि तुलसीदास ने कृपणता से कहीं काम लिया है तो भोज्य पादर्थों के प्रदर्शन में ही। सो भी इस रूप में कि अभाव किसी को खटकता भी नहीं। समय की सूझ तुलसी में इतनी है जितनी और किसी में नहीं। लेना और छोड़ना, संग्रह और त्याग पहिचान से होता है और यह पहिचान तुलसी की निजी पहिचान है।

तुलसीदास ने नीति और उपदेश को प्रकट, प्रच्छन्न, काकु और व्यंग्य आदि सभी रूपों में लिया है। इनको लेकर कितना बतबढ़ाव हो? तो भी इतना तो कहना ही होगा कि 'दोहावली' का इस दृष्टि से विशेष महत्व है। राम-

चरितमानस में तो नीति और उपदेश का अत्यन्त विधान है ही। उद्धरण भी उसमें उन ग प्रकट और स्मृति के रूप में ही हुआ है। इसी से कहीं-कहीं वह बहुतों को खटकता भी बहुत है। परन्तु यदि पात्रों की प्रकृति पर दृष्टि रख कर उसके स्वरूप पर ध्यान दिया जाय तो उसकी खटक आप ही बहुत कुछ दूर हो जाती है। उसका निराकरण स्वयं हो जाता है। उदाहरण के रूप में सूपनखा की वह प्रसिद्ध फटकार लीजिये जिसमें नीति की झड़ी है। वह रावण को चपेटती है—

बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी।
करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहि तव सिर पर आराती॥
राजु नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
बिद्या बिनु बिवेक उपजाए। स्रम फल पढ़े किए अरु पाए॥
संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहि बेगि नीति असि सुनी॥
रिपु रुज पावक पाप-प्रभु अहि गनिय न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन॥

—अरण्य, १९

इसके सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन है कि इसे उस दृष्टि से देखिये जिस दृष्टि से संस्कृत रूपकों में शकारि अथवा 'राष्ट्रिय' अथवा राजश्याला का विधान होता है। सूपनखा की यह राष्ट्रियता ठीक उसी कोटि की है और उसका शास्त्र-ज्ञान भी उसी ज्ञान-बंधुता का प्रतिफल जो राजा के लगाव कारण भगिनी या श्याला में होता है। शकारि होता तो मूर्ख है पर 'श्याला' होने के नाते राजा का कृपापात्र बन जाता है और इधर-उधर की डींग मारना ही उसका मुख्य कार्य होता है। नैहर में स्त्री की जो स्थिति होती है और ऐसी स्त्री की जो 'पुंवत् प्रगल्भा' हो वही सूपनखा की है। यह विधवा थी और रहती थी रावण के यहाँ स्वतंत्र क्या,

स्वच्छन्द रूप में ही। इसी से जब यह क्रोध में आती है और वैर के कारण मदान्ध हो जाती है तब आदि और अन्त में तो ठिकाने की बात कह जाती है पर बीच में अपना ज्ञान भी झाड़े बिना नहीं रहती। तुलसीदास ने कहा भी है—'वैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू।' वैर यहाँ है और प्रेम राम में—सीता के वियोग और लक्ष्मण के शोक में। यहाँ प्रलाप है तो वहाँ विलाप।

तुलसीदास के उपदेश के दो स्थल 'कवितावली' से लिये जाते हैं और इनके द्वारा यह दिखाया जाता है कि तुलसीदास का उपदेश किस ढंग से क्या कराना चाहता है। नाना प्रकार के संकल्पों में जीव अपने आप को किस प्रकार खो देता है इसे देखना हो तो तुलसी का यह कवित्त पढ़ें और गुनें भी—

काल्हि ही तरुन तन, काल्हि ही धरनि धन,
काल्हि ही जितौंगो रन, कहत कुचालि है।
काल्हि ही साधौंगो काज, काल्हि ही राजा समाज,
मसक ह्वै कहै 'भार मेरे मेरु हालिहै'।
तुलसी यही कुमति घने घर घालि आई,
घने घर घालति है, घने घर घालिहै।
देखत सुनत समुझत हू न सूझै सोई
कबहूँ कह्यो न 'कालहू को काल काल्हि है'॥

—कविता०, उत्तर, १२०

कल की चिन्ता छोड़ कर आज क्या करना चाहिये और किसे किस वस्तु का साधन और किसको अपना साध्य बनाना चाहिये, इसको जानना हो तो तुलसी का यह उद्घोष सुनें—

जाय सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाय सो जती कहाय विषय-वासना न छंडै॥
जाय धनिक बिनु दान, जाय निर्धन बिनु धर्महिं।
जाय सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महिं॥

सुत जाय मातु-पितु-भक्ति बिनु, तिय सो जाय जेहि पति न हित।
सब जाय दास तुलसी कहै, जौ न रामपद नेह नित॥
—कविता०, उत्तर, ११६

तुलसीदास प्राकृत जन को तो ले नहीं सकते थे, किन्तु उन्होंने जो कुछ लिया है वह प्राकृत-जन के निमित्त ही। राम प्राकृत जन नहीं थे, किन्तु उनकी लीला रही सदा प्राकृत ही। जहाँ अद्‌भुत हुई कुछ के हेतु हुई, सबके सामने नहीं। राम के साथ ही तुलसी ने कृष्ण को भी लिया, किन्तु केवल उस कृष्ण को नहीं, जो रास-रसिक अथवा मधुर रस के सर्वस्व समझे जाते हैं। उन्होंने उस कृष्ण को सराहा जिसने सब को सिद्ध किया और कभी किसी में आसक्त नहीं हुआ। तुलसीदास ने जो—

कै बड़ कै लघु मीत भल, सम सनेह दुख होइ॥
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस, मिले महा विष होइ॥
—दोहा०, ३२२

कहा है उसमें कुछ इसका भी संकेत हो तो आश्चर्य नहीं। तुलसीदास कृष्ण-चरित को किस रूप में समाज में प्रचलित देखना चाहते थे इसको उनकी 'श्रीकृष्णगीतावली' में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी तुलसीदास के कुछ छन्द प्राप्त होते हैं। उनका एक सवैया है—

जोग कथा पठई ब्रज को, सब सो सठ चेरि की चाल चलाकी।
ऊधोजू, क्यों न कहै कुबरी जो बरी नट नागर हेरि हलाकी॥
जाहि लगै पर जानै सोई, तुलसी सो सुहागिनि नंदलला की।
जानी है जानपनी हरि की, अब बाँधियेगी कछु मोटि कला की॥
—कवितावली, उत्तर १३४

तुलसीदास ने अपेक्षाकृत ऊधो को अधिक लिया है और

गए कर तें, घर तें, आँगन तें अजहू तें व्रजनाथ ।
तुलसी प्रभु गयो चहत मनहुँ तें सो तो है हमारे हाथ ॥"
—श्रीकृष्णगीतावली, ४२

गोपियाँ बिसूरती हैं, झंखती हैं, पछताती हैं, झँपती हैं, चिंचित होती हैं और अंत में यही समझ कर रह जाती हैं कि अपना मन प्रियतम में है और प्रियतम कामन कूबरी में! फिर बने तो कैसे बने? पटे तो कैसे पटे? कहना कुछ चाहती हैं, किन्तु डर है कि मुह से कुछ और ही न निकल पड़े। निदान तटस्थ रहना ही ठीक है। सुनिए किस विषाद से कहती हैं —

कान्ह, अलि भये नये गुरु ज्ञानी ।
तुम्हरे कहत आपने समुझत, बात सही उर आनी ॥
लिए अपनाइ लाइ चन्दन तन, कछु कटु चाह उड़ानी ।
जरी सुँघाइ कूबरी कौतुक करि जोगी बघ'-जुड़ानी ॥
व्रज बसि रा[illegible]-बिलास, मधुपुरी चेरी सों रति मानी ।
जोग-जोग ग्वालिनी बियोगिनि जान-सिरोमनि जानी ॥
कहिबे कछू, कछू कहि जैहै, रहौ, आलि, अरगानी ।
तुलसी हाथ पराए प्रीतम, तुम्ह प्रिय-हाथ बिकानी ॥
—श्रीकृष्णगीतावली, ४७

प्राय: लोग तर्क किया करते हैं कि गोपियाँ तड़पती तो इतना हैं, पर कभी मथुरा जाने में उनका क्या जाता है जो नहीं जातीं? समाधान मान बता कर किया जाता है। परन्तु तुलसी की गोपियाँ कहती हैं —

सब मिलि साहस करिय सयानी ।
व्रज आनिअहि मनाइ पाँय परि कान्ह कूबरी रानी ॥
बसैं सुबास, सुपास होहि सब फिरि गोकुल रजधानी ।
महरि महर जीवहिं सुख-जीवन खुलहि मोद-मनि-खानी ॥

तजि अभिमान अनख अपनो हित कीजिय मुनिवर बानी।
देखिबो दरस दूसरेहु चौथेहु बड़ो लाभ लघु हानी॥
पावक परत निषिद्ध लाकरी होति अनल जग जानी।
तुलसी सो तिहुँ भुवन गाइबी नंदसुवन सनमानी॥ —वही, ४८

यह भली बात सबको भा जाती है और कहा जाता है —

कही है भली बात सबके मन मानी।
प्रिय सम प्रियसनेह-भाजन सखि प्रीति-रीति जग जानी॥
भूषन भूति गरल परिहरि कै हरमूरति उर आनी?
मज्जन पान कियो कै सुरसरि कर्मनास - जल छानी?
पूँछ सों प्रेम, विरोध सींग सों यहि बिचार हितहानी।
कीजै कान्ह-कूबरी सों नित नेह करम मन बानी॥
तुलसी तजिय कुचालि आलि अब सुधरै सबइ नसानी।
आगे करि मधुकर मथुरा कहँ सोधिय सुदिन सयानी॥
—वही, ४९

इस सयानी बात पर ध्यान तो दीजिये। गोपियाँ कहती हैं कि ऊधो आगे-आगे मथुरा को चलें और उनके पीछे-पीछे गोपियाँ। ऊधो समझाने क्या आये थे, मानों कृष्ण की ओर से उन्हें विदा कराने आये थे। फिर ऊधो बेचारे इस बला का सामना कहाँ तक करते! ऊधो बूझते नहीं, बस बुझाना भर चाहते हैं। अन्त में गोपियाँ भी खीझ कर कहती हैं —

कौन सुनै अलि की चतुराई।
अपनिहि मति विलास अकास महँ चाहत सियनि चलाई॥
सरल सुलभ हरि भगति - सुधाकर निगम पुराननि गाई।
तजि सोइ सुधा मनोरथ करि करि को मरिहै, री माई॥
जद्यपि ताको सोइ मारग प्रिय जाहि जहाँ बनि आई।
मैन के सदन, कुलिस के मोदक कहत सुनत बौराई॥
सगुनछीर-निधि - तीर बसत ब्रज तिहुँ पुर विदित बड़ाई।

आक दुहन तुम्ह कह्यो सो परिहरि हम यह मति नहिं पाई ॥
जानत हैं जदुनाथ सबन की बुधि बिवेक जड़ताई।
तुलसिदास जनि बकहि, मधुप, सठ, हठ निसि दिन अँबराई ॥
—वही, ५१

निदान स्थिति यह हुई कि—
मोको अब नैन भये रिपु माई।
हरि-बियोग तनु तजेहि परमसुख इराखहि सोइ है बरियाई ॥
बरु मन कियो बहुत हित मेरो बारहिंबार काम दव लाई।
बरषि नीर ये तबहिं बुझावहिं स्वारथ निपुन अधिक चतुराई ॥
ज्ञान परसु दै मधुप पठायो बिरह बेलि कैसेहु कठिनाई।
सो थाक्यो बरहर्यो एकहि तक देखत इनकी सहज सिंचाई ॥
हारत हू न हारि मानत, सखि, सठ सुभाव कंदुक की नाईं
चातक जलज मीनहुँ तें भोरे समुझत नहिं उन्हकी निठुराई ॥
ए हठ-निरत दरस लालच बस परे जहाँ बुधिबल न बसाई।
तुलसिदास इन्ह पर जो द्रवहिं हरि तौ पुनि मिलौं बैर बिसराई ॥
—वही, ५६

'तौ पुनि मिलौं बैर बिसराई' के साथ इस प्रसंग को समाप्त कीजिये और एक ठकुराई का रूप भी देख लीजिये—

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई ॥
घन - धावन, बगपाँति पटोसिर, बैरख - तड़ित सोहाई।
बोलत पिक नकीब, गरजनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई ॥
चातक मोर चकोर मधुप सुक सुमन समीर सहाई।
चाहत कियो बास बृन्दाबन बिधि सों कछु न बसाई ॥
सींव न चाँपि सक्यो कोऊ तब जब हुते राम कन्हाई।
अब तुलसी गिरिधर बिनु गोकुल कौन करिहि ठकुराई ॥
—वही, ३२

तुलसीदास के समय में शासन-व्यवस्था क्या थी इसको भी तुलसीदास ने बता दिया। जो लोग कहते हैं कि तुलसीदास में समय का लेश नहीं उनको तुलसीदास का अध्ययन समय के साथ करना चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिये कि तुलसीदास ने अपने समय को सूक्ष्म दृष्टि से देखा, समझा, परखा और उसको सन्मार्ग दिखाया है। दिखाया ही नहीं, बहुत कुछ सन्मार्ग पर लाया भी है।

तुलसी दास के भाव, विचार, सिद्धान्त सब सामने आ गये और आये ऐसी भाषा के परिधान में कि उसके विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। फिर भी कुछ न कुछ तुलसीदास की भाषा के विषय में भी कह लेना चाहिये। कारण कि इसके सम्बन्ध में भी बहुत कुछ ऊहापोह हो रही है। किसी को इनकी संस्कृत शुद्ध नहीं दिखाई देती तो किसी को इनकी अवधी में व्रज-भाषा मिलती है और किसी को इनकी व्रज-भाषा में अवधी के प्रयोग मिलते हैं। आशय यह कि सभी को कुछ न कुछ कहने को प्राप्त हो जाता है और सबसे बढ़ कर विलक्षण लीला आज यह हो रही है कि उर्दू के लोग और हिन्दुस्तानी के हिमायती भी तुलसी में बहुत कुछ और बहुत दूर की देख रहे हैं और कहते हैं कि जब तुलसी ने अरबी-फारसी शब्दों को अपनाया तब किसी को उनसे परहेज क्यों ? ठीक है, समझ की बात ठहरी, समय की सूझ ठहरी और ठहरी समझौते की युक्ति भी। पर समन्वय की नहीं, असमंजस की।

गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि संग्रह की रही है—लोक-संग्रह की भी, शब्द-संग्रह की भी और तत्व संग्रह की भी। उन्होंने सबको परखा, तौला और यथास्थान सबको स्थान भी दिया। भाषा के क्षेत्र में भी उनकी यही स्थिति है। संस्कृत को छोड़ कर भाषा में रचना करना शिष्ट लोगों को उस समय रुचता नहीं था। ऐसा

करने में कुछ हेठी दिखाई देती थी और संकोच के मारे साहस भी नहीं हो पाता था। और इसी से तुलसीदास को भी अपने पक्ष के प्रतिपादन में कुछ न कुछ लिखना भी पड़ा है। यहाँ तक कि उनका एक दोहा बहुत ही प्रचलित और प्रसिद्ध हो गया है। कहते हैं कि किसी पंडित के समाधान में ही उन्होंने इसकी रचना की थी —

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
काम जो आवे कामरी का लै करे कुमाँच।"

—दोहा, ५७२

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'कुमाँच' की कोई उपयोगिता ही नहीं, सब कुछ कामरी से ही सध जाता है। तुलसीदास जानते थे कि संस्कृत को छोड़ देने से लोक का कल्याण नहीं हो सकता। उसे तो भाषा के साथ-साथ ले चलना होगा। इसीसे उन्होंने रामचरितमानस में उसका उचित सत्कार किया और मंगलाचरण तथा स्तुति में उसे प्रमुख स्थान दिया। उसका आदर किया, उसका स्वागत किया, उसकी शब्दावली ली। तात्पर्य यह कि जो कुछ उससे ले सके, लेने से विमुख कभी न हुए और उसका फल भी यह हुआ कि उनकी इस रचना का जितना प्रसार और स्वागत हुआ उतना किसी भी उनके अन्य ग्रन्थ का नहीं।

संस्कृत के सम्बध में अधिक कहना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। 'विनय-पत्रिका' में भी देव-वाणी की यही स्थिति रही है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि देवता लोग देव-वाणी ही से रीझते हैं और कभी भाषा कर आदर नहीं करते। नहीं, रामचरितमानस में स्वयं देवता लोग एवं उनके ईश सुरपति भी संस्कृत को छोड़ भाषा में ही, राम की प्रशंसा में, अपनी वाणी खोलते हैं। ऋषि-मुनियों में कोई भाषा में स्तुति करता है तो कोई देववाणी में। इसका प्रयोजन यही है कि प्रेम और प्रसंग को देखो, भाषा तथा

भाव को परखो और देश तथा काल के अनुसार उनका उपयोग भी करो। उनकी यही नीति व्रज-भाषा और अवधी के प्रति भी रही है। 'राम-चरित-मानस' में अवधी को लेकर चले हैं तो 'गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' में व्रज-भाषा को। 'कवितावली' में है तो व्रज-भाषा ही, किन्तु उसकी परम्परा वही है जो उस समय कवित्त सवैयों में थी। तुलसीदास ने गीत को गीत की भाषा के रूप में रचा है, कवित्त को कवित्त की भाषा के रूप में और पदों को पदों की भाषा के रूप में, सोहर को सोहर के रूप में। आशय यह कि देश के अनुसार भेष बना है और भूषा भी वैसी ही ली गई है। तुलसीदास की भाषा, भाव के अनुकूल ही नहीं, पात्र के अनुकूल भी हुई है और हुई है देशकाल के अनुसार भी। 'श्रीकृष्ण-गीतावली' और 'गीतावली' की भाषा तो एक ही है, किन्तु दोनों का रस अलग-अलग है। 'श्रीकृष्ण-गीतावली' में जितनी उक्तियाँ फबतियाँ, और मुहावरे हैं उतने 'गीतावली' में नहीं। ऐसे ही अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये। उनकी भाषा के मर्म को पहिचानने के लिये एक उदाहरण लीजिये। प्रसंग रक्त-रंजित रणभूमि का है। लिखते हैं—

जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं।
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं॥

यहाँ तक भाषा का जो ढंग है वह आगे चल कर कुछ और ही रूप धारण कर लेता है। देखिये—

जंबुक निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुहाहिं अघाहिं दपट्टहिं॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं॥
बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं।
खप्परन्हि खग्ग अलुज्झि जुज्झहिं सुभट भटन्ह ढहावहीं॥

रणभूमि की इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए आगे का

वर्णन लीजिये —

बानर निसाचर निकर मर्दहिं राम-बल दर्पित भये।
संग्राम अंगन्ह सुभट सोवहिं राम सर निकरन्हि हये।

एवं —

रावन हृदय विचारा, भा निसिचर संघार।
मैं अकेल कपि-भालु बहु, माया करउँ अपार॥

—लंका, ८८

इसमें द्वित्व के कारण जो ओज आ गया है उसको नाद के पारखी भली-भाँति परख सकते हैं और कोई भी इसे जान सकता कि यह प्रणाली वीरता के प्रसंग में क्यों बरती जाती है। 'कटक्कट कट्टहिं' में जहाँ उनके काटने की विकटता है वहीं 'खाहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं' में उनकी प्रकृति का पूरा परिचय भी। रण में आहत वीर जो दो खंड हो जाते हैं तो वीरता के दर्प में भरे होने के कारण उनका मुंड तो जय जय कार करता है और रुंड उन्मत्त की दशा में इधर उधर दौड़ता, उलझता, जूझता, और ले-दे के किसी को गिर पड़ता है। इसको वीरता की पराकोष्ठा समझिये। और यह स्मरण रखिये कि ये वीर विरोधी दल के हैं। किन्तु तुलसी जानते हैं कि रावण-दल में वीरता का अभाव नहीं। अतएव उसके प्रदर्शन में चूकते भी नहीं। मरता क्या नहीं करता का यह अच्छा उदाहरण है। इधर वानरों में भी उत्साह कम नहीं है। वे भी निशाचरों को रगड़ते हैं और राम के बाण तो सुभटों को सुला ही देते हैं। इसको देख कर रावण का हृदय कैसा बैठ जाता है यह दोहे की भाषा से आप ही प्रकट हो जाता है। 'मैं अकेल' में कितना हताश हो गया है इसे भी देख लें और तुलसी की भाषा-शक्ति को सदा के लिये पहिचान भी लें। इसके विषय में और कहना कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। कारण कि तुलसी की इस शक्ति को सभी जानते तथा मानते पहिचानते

भी हैं। अतएव कहना अब यह रहा कि अरबी-फारसी शब्दों के प्रति तुलसी की नीति क्या है। सो यह भी स्पष्ट है कि तुलसीदास अरबी-फारसी शब्दों को अपनाते हैं और अपनाते हैं हिन्दी रूप में ही। यहाँ भी उनका सिद्धान्त है कि जो सुरसरि में पड़ा वह सुरसरि की धारा में मिल कर सुरसरि हो गया, और यदि नहीं पड़ा तो वह दूध की माखी की भाँति अग्राह्य है।

तुलसीदास ने अरबी-फारसी शब्दों को किसी कोष से नहीं लिया है। जो शब्द प्रभुता के साथ व्यवहार में चल पड़े थे और देश में फैल गये थे उन्हीं को उन्होंने ग्रहण किया और किया प्रायः राजा के प्रसंग में ही। उन्होंने राम को 'गरीब-निवाज' तो बनाया पर बादशाह राम नहीं। कारण कि तुलसी शब्द-पारखी थे, मर्मवेदी थे और थे ऋत के ज्ञाता भी। उनका एक कवित्त लीजिये और देखिये कि तुलसीदास किस ढंग से अरबी-फारसी शब्दों को लेते तथा उससे क्या प्रभाव डालते हैं—

जाहिर जहान में जमानो एक भाँति भयो,
बेंचिये बिबुध-धेनु रासभी बेसाहिए।
ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपालु तेरे।
नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिए॥
तुलसी तिहारो मन बचन करम, तेहि
नाते नेह-नेम निज ओर तें निबाहिए।
रंक के निवाज रघुराज राजा राजनि के
उमरि दराज महाराज तेरी चाहिए॥"

—कविता०, उत्तर, ७६

'जाहिर जहान' में जो उठान उठी है वह 'उमरि दराज' में घुमड़ पड़ी है, जिससे यह खुल गया है कि तुलसी ऐसा चाहते क्यों हैं।

'सरीक' से 'सरीकता' और लायक से 'अलायक' बना लेना

तुलसी का धर्म था। कोई भी भाषा, यदि वह सचमुच वाणी है और अपने बल-बूते पर ही बढ़ रही है तो वह किसी भी शब्द को उसकी शक्ति के कारण ग्रहण करती है और उस पर अपना कड़ा अनुशासन रखती है। यदि वह ऐसा नहीं करती है तो इसका अर्थ है कि वह अपने पुनीत राज्य में अराजकता को बयाना देती है। संसार की जितनी भाषाएँ हैं सभी इसी नियम का पालन करती हैं। यदि कहीं इसका अपवाद दिखाई देता है तो हिन्दी की उस लाड़ली में जो अपने को यहाँ की वाणी कहती, पर ढर्रा पकड़ती है सदा अरबी-फारसी का ही। उसकी यह प्रवृत्ति देश के लिये घातक, समाज के लिये हानिकर और भाषा के लिये विडम्बना भर है। तुलसीदास इस विडम्बना से बचे रहे, बचने का उपदेश दे गये और वह ढर्रा भी दिखा गये, जो भाषा का अपना राज-मार्ग है और जिस पर शिष्ट समाज की सारी भाषाएँ आचरण कर रही हैं। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि तुलसीदास ने बाहरी शब्दों को ठेठ बनाकर लिया है और ठेठ शब्दों को गँवारी से उठाकर नागरी बना दिया है। तुलसीदास की रचना में जो लोग यह दोष निकालते हैं कि उनकी ब्रजभाषा में अवधी और अवधी में ब्रजभाषा के शब्द पाये जाते हैं, वे भाषा, भाव और रस के भेद को नहीं जानते। वे तो शब्द को ब्रह्म के रूप में नहीं, जड़ के रूप में पहिचानते हैं और जहाँ के तहाँ से उसको टसमस होने नहीं देना चाहते। सारांश यह कि सभी दृष्टियों से विचार करने पर तुलसीदास की भाषा के विमल यश के सम्बन्ध के हमारा भी यही कहना है—

नव बिधु बिमल तात जस तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहू ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
कोक तिलोक प्रीति अति करही। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥
निसिदिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥

पूरन राम सुप्रेम पियूषा। गुर अवमान दोख नहिं दूषा॥
राम भगति अब अमिय अघाहू। कीन्हिहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥
—अयोध्या, २०१

'कीन्हेहु सुलभ सुधा वसुधाहू' के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। देखने की आँख और सुनने के कान से कुछ छिपा नहीं। हाँ, कैकेयी के करतब के सम्बन्ध में कुछ असमंजस अवश्य है। तुलसी ने अभिलाष, असमंजस और पश्चात्ताप को बड़ी निपुणता, तल्लीनता, तन्मयता और तादात्म्य के साथ दिखाया है। परन्तु परिस्थिति वह नहीं रही। देश तो वही रहा, पर काल नहीं। काल-चक्र का प्रभाव अथवा समय के साथ बदलती हुई प्रवृत्ति ही कैकेयी की वह करनी है जिससे तुलसी का 'विमल-यश' कभी ग्रसित नहीं होगा। कारण कि वह भी उसी 'नव वधू' की भाँति विमल है। अध्ययन से उसकी कौमुदी भी फैलेगी, इसमें सन्देह नहीं। फैलाव के साथ दोष भी फैलता ही है। पूर्णचन्द्र में जैसा कलंक गोचर होता है वैसा नवल विधु में नहीं। हाँ, उसके सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न रुचि के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की ठीक वैसी ही धारणा रहेगी जैसी कि स्वयं राम चरितमानस में भिन्न भिन्न पात्रों की, भिन्न-भिन्न रूपों में रही है और राम के पूछे जाने पर प्रकट हुई है। निष्कर्ष यह कि 'जाकी रही भावना जैसी' की उक्ति यहाँ भी चरितार्थ होगी ही, फिर इसकी इतनी चिन्ता क्यों?